रंग संवाद

अप्रैल 2016

वनमाली सृजन पीठ (भोपाल) की
संवाद पत्रिका

प्रधान संपादक

संतोष चौबे
choubey@aisect.org

संपादक

विनय उपाध्याय
vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता

शब्दांकन : मुकेश सेन

संपादकीय संपर्क :
वनमाली सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : rangsamvad@gmail.com

●●●

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित।
मुद्रक - दृष्टि ऑफसेट, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

इस बार

रुचि और जिज्ञासा का रंगमंच /5
वामन केन्द्रे

भाषा का अभिनय हो जाना /7
नंदकिशोर आचार्य

रंगपटल पर औरत के नए अक्स /10
कमल कुमार

नेपथ्य नाटक की नींव /14
सेवाराम त्रिपाठी

परदों के नाटक /16
मुकुटबिहारी सरोज

शहनाई के शहंशाह /17
रघुवीर

आदमी को इंसान बनाने में कटी उम्र /20
महेन्द्र गगन

मकबूल अदाकार /22
रामप्रकाश

अनथक रंगयात्री /24
सुनील मिश्र

अपनी धुन के निराले, सुरीले पाठकजी /26
विजयबहादुर सिंह

भारतीय फिल्मों के हास्य नायक /31
मणि खेड़ेकर भट

अब आप निश्चिंतता से सो सकते हैं /34
सुदीप सोहनी

कला के हर रूप में झरता जीवन संगीत /36
संदीप राशिनकर से स्मृति आदित्य की वार्ता

भीम बैठका एकांत की कविता है /38
प्रेमशंकर शुक्ल

विगत के रंग झरोखे /40
प्रभाकर श्रोत्रिय

प्रहसन जैसे यथार्थ /41
संगम पाण्डे

सृजन के आसपास : सांस्कृतिक गतिविधियाँ /42

धरती के छंद गाती आवाज़ /51
विनय उपाध्याय

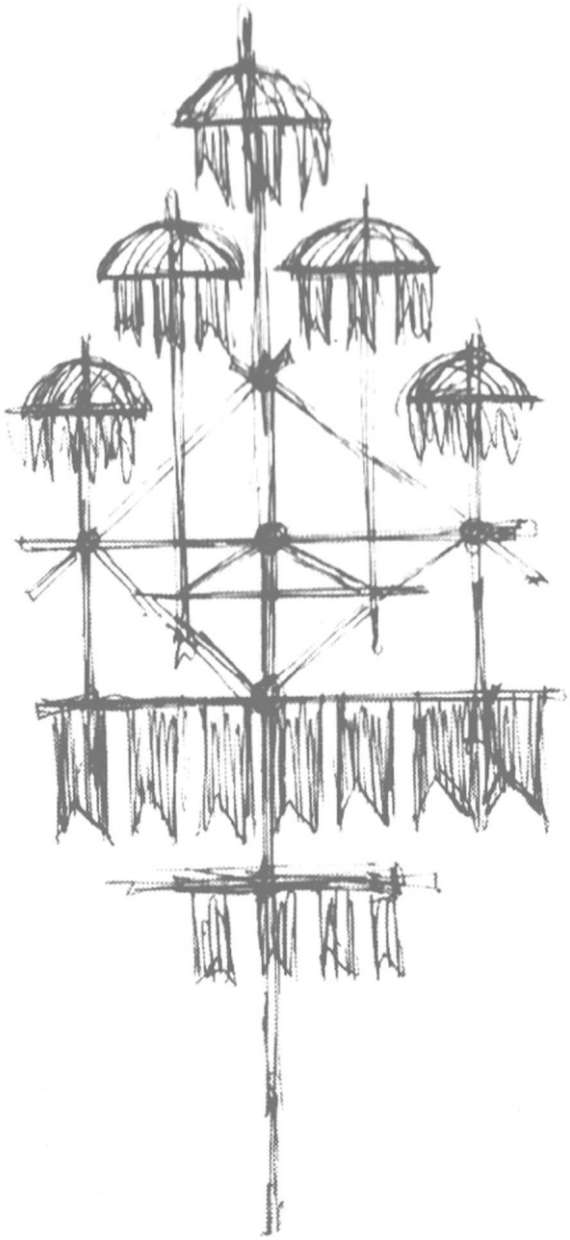

● **आकल्पन** : विनय उपाध्याय ● **आवरण चित्र** : के. रवीन्द्र ● **आवरण सज्जा** : वंदना श्रीवास्तव - अमित
● **भीतर के छायाचित्र** : विजय रोहतगी, सौरभ अग्रवाल, अरुण जैन, प्रवीण दीक्षित, नीरज रिछारिया, अमीन अख्तर

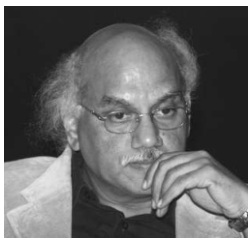

सांस्कृतिक सक्रियता के केंद्र छोटे शहर

पिछले दिनों खंडवा में था।

खंडवा दादा माखनलाल चतुर्वेदी की कर्मस्थली रहा है और श्री जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' की भी, जिन्हें हम प्यार से 'दादा' ही कहते थे। खंडवा से प्रख्यात व्यंग्यकार एवं पद्मश्री से सम्मानित साहित्यकार रामनरायण उपाध्याय, प्रतिष्ठित कवि श्रीकांत जोशी तथा प्रख्यात कथाकार कृष्णा अग्निहोत्री का भी नाता रहा है। वनमालीजी के दो छात्र श्री विष्णु खरे और श्री अजातशत्रु का भी खंडवा से गहरा जुड़ाव रहा और उन्होंने आगे चलकर कविता तथा आलोचना के क्षेत्र में राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। वर्तमान में ललित निबंधकार डॉ. श्रीराम परिहार खंडवा में हैं, व्यंग्यकार कैलाश मंडलेकर और उर्दू कविता के सशक्त हस्ताक्षर सफ़दर रज़ा खंडवी, युवा शायर सूफ़ीयान क़ाज़ी और प्रगतिशील कवि प्रतापराव कदम खंडवा में निवास करते हैं। खंडवा के आसपास भालचंद जोशी, प्रदीप जिलवाने, अर्चना भैंसारे और अन्य कई वरिष्ठ तथा युवा कवि आलोचक अपनी पूरी रचनात्मकता के साथ उपस्थित हैं। शबनम शाह वहाँ छात्रों को चित्रकला सिखा रही हैं और बैजनाथ सराफ भी इसी कार्य में संलग्न हैं। शरद जैन नाट्य संस्था 'नट निमाड़' का संचालन करते हैं और हमारे सहयोगी कला समीक्षक विनय उपाध्याय तथा कवि मोहन सगोरिया भी खंडवा से आते हैं। और ये सब किशोर कुमार के अलावा हैं।

पिछले दो-तीन वर्षों में अपनी सतत खंडवा यात्राओं के दौरान मैंने खंडवा की इस सांस्कृतिक विरासत को जाना। खंडवा मेरा भी जन्म स्थान रहा है और हाल ही में मेरे साठ वर्ष पूरे होने पर खंडवा के सहयोगियों और मित्रों ने वहाँ एक वृहद कार्यक्रम का आयोजन किया। कार्यक्रम में खंडवा और उसके आसपास की बीस से अधिक साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं ने हिस्सा लिया। उद्घाटन सत्र में डॉक्टर श्रीराम परिहार, बलराम गुमास्ता, डॉ. संध्या चतुर्वेदी, मुकेश वर्मा, ज़हीर कुरैशी, रमाकांत श्रीवास्तव और डॉ. शिशिर मुखर्जी के वक्तव्य हुए और उन्होंने भावभीने संस्मरण भी सुनाये। शाम को 'कविता यात्रा' की भी प्रस्तुति हुई जिसे मनोज नायर ने निर्देशित किया था और संतोष कौशिक ने संगीतबद्ध किया था। अगले दिन सुबह डॉ. सफदर रज़ा खंडवी की अध्यक्षता में आमंत्रित कवियों ने कविता पाठ किया जिनमें ज़हीर कुरैशी, बलराम गुमास्ता, अशोक वाजपेयी, श्रीकांत साकल्ले, अशोक गीते, विनय उपाध्याय, मोहन सगोरिया, वसंत सकरगाए, सूफीयान काज़ी, प्रदीप जिलवाने, अर्चना भैंसारे और शैलेन्द्र शरण शामिल थे। इस सत्र में बैजनाथ सराफ ने कविताओं का सजीव चित्रण भी किया।

शबनम शाह और बैजनाथ सराफ ने कविताओं पर आधारित एक चित्र प्रदर्शनी भी लगाई। शाम को मनोज नायर द्वारा निर्देशित ब्रेख्त की कहानी 'सुकरात' का मंचन भी हुआ। इस अवसर पर खंडवा के कलाकार और साहित्यकार, आम दर्शक तथा पाठक बड़ी संख्या में उपस्थित थे जिनमें लुकमान मसूद के छात्र बड़ी संख्या में शामिल थे। बहुत प्रेम के साथ रचनाओं का आनंद लिया गया, बहुत गहराई के साथ लोगों ने अपना जुड़ाव प्रदर्शित किया और बहुत ही स्नेह के साथ सभी आमंत्रितों का स्वागत सत्कार किया गया। आईसेक्ट स्टूडियो ने अपनी फिल्म का प्रदर्शन भी किया।

इस विवरण के बाद मैं अपने मूल बिन्दु पर आता हूँ। क्या वर्तमान में सांस्कृतिक कार्यवाही के केंद्र छोटे शहरों की ओर सरक रहे हैं? या क्या खंडवा जैसे पारंपरिक सांस्कृतिक केंद्रों को पुनः केंद्र में लाने की आवश्यकता नहीं है? क्या दिल्ली, लखनऊ, भोपाल और मुंबई के साथ-साथ खंडवा, सीहोर और बिलासपुर को भी शामिल नहीं होना चाहिए? इसी कड़ी में देखा जाए तो कलकत्ता, पटना और रांची के साथ-साथ हजारीबाग जैसे शहरों का स्थान भी निकल आएगा।

पिछले दिनों हमने वर्ष 2014 का वनमाली सम्मान समारोह बिलासपुर में आयोजित किया था जिसे पूरे छत्तीसगढ़ से अभूतपूर्व सराहना मिली। सीहोर में हमारे साथी पंकज सुबीर हर वर्ष एक साहित्यिक कार्यक्रम आयोजित करते हैं। उन्होंने इस छोटी सी जगह में एक प्रकाशन गृह भी स्थापित किया है और तकनीक के माध्यम से वे अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य व संस्थाओं से भी जुड़े हैं। उज्जैन, दुर्ग और रायगढ़ जैसे स्थानों पर बड़े साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रयास किए जाते हैं। इन सबमें परस्पर संवाद की आवश्यकता है और उन्हें केंद्रीयता हासिल करनी चाहिए।

मुझे लगता है कि यह समय घर बैठने का नहीं बल्कि सचेत और व्यापक सांस्कृतिक कार्यवाही का है जिसमें छोटे शहर बड़ी भूमिका अदा कर सकते हैं और भाषा तथा बोलियों का वैविध्य भी प्रदान कर सकते हैं। वनमाली सृजन पीठ के माध्यम से हमारा छोटा ही सही किन्तु सतत प्रयास इस दिशा में रहता है। आगामी समय में विशेषकर छोटे शहरों में हम सौ पाठक मंचों की स्थापना करने जा रहे हैं जो इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम होगा।

नवाँ वनमाली कथा सम्मान चित्रा मुद्गल, प्रभु जोशी, मोहम्मद आरिफ, डॉ. विनोद तिवारी एवं रचना समय (संपादक- हरि भटनागर) को दिया जा रहा है। इसकी विस्तृत रिपोर्ट अगले अंक में।

सभी सम्मानित रचनाकारों को शुभकामनाएं।

•

इस बीच प्रख्यात रचनाकार प्रो. आफ़ाक अहमद, निदा फाज़ली, ज्योत्स्ना मिलन, प्रेमशंकर रघुवंशी, रवीन्द्र कालिया जो वनमाली परिवार से जुड़े रहे और जिनकी हमारे प्रकल्पों में महत्वपूर्ण भूमिका रही अब हमारे बीच नहीं रहे। हम उन्हें सम्मान के साथ स्मरण करते हैं। इन सभी दिवंगतों को भावभीनी श्रद्धांजलि।

2.4.2016 **संतोष चौबे**

कला का उद्देश्य केवल वास्तविकता दिखाना नहीं होता। वास्तविकता से परे क्या ज़िंदगी है, क्या सोच है, क्या आशावाद है, क्या हो सकता है आगे चलकर? यह सब दिखाने का मतलब कला है। लाइफ बियांड रिअलिटी। इसीलिए लोग कला की ओर आकर्षित होते हैं। हक़ीक़त तो हमारे सामने है, लेकिन हम कला देखने जाते हैं तो वह हमें हक़ीक़त से परे ले जाती है। यही वजह है कि कला हमें ज़्यादा व्यापक और समृद्ध लगती है।

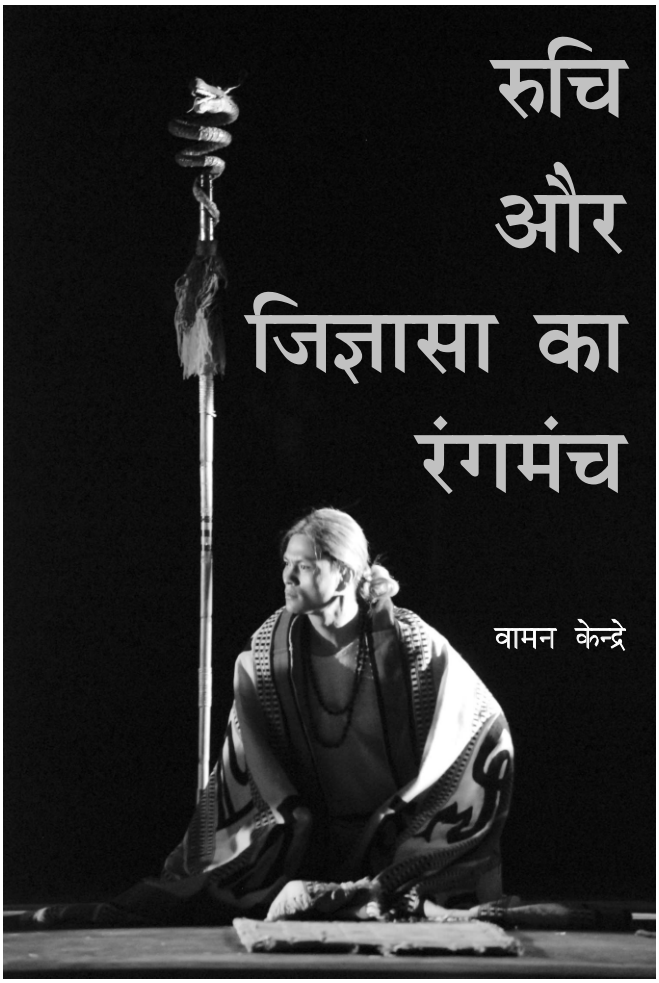

मुझे लगता है कि नई पीढ़ी में थिएटर को नए नज़रिये से कुछ नया करने की ऊर्जा दिखाई देती है। कोई आविष्कार करना, नई रंगभाषा की खोज के प्रयास, अभिव्यक्ति की तड़प ये सब नई पीढ़ी के रंगकर्मियों में दिखता है। हम कह सकते हैं कि स्थिति ख़राब नहीं है। आदर्श स्थिति तो नहीं है और स्थिति कभी आदर्श होती भी नहीं है। यह तो अंतिम लक्ष्य होता है, लेकिन हाँ, उस आदर्श की ओर मार्च शुरू हो गया है। नाट्य क्षेत्र को देखकर निराशा पैदा होने जैसी बात नहीं रही है। नए नाटक आ रहे हैं, नए नाटक लिखे जा रहे हैं।

हिन्दी में नए नाटक लिखने की परंपरा उतनी मज़बूत नहीं है पर कहानी, कविता, उपन्यास में से नाटक जन्म ले रहे हैं। महाराष्ट्र या बंगाल में नाटक लिखने की मज़बूत परंपरा है। चार-पांच पीढ़ियों की परंपरा दिखाई देती है। पुराने नाटक भी बार-बार होते हैं। ऐसे नाटक भी हैं, जिन्हें पांच हज़ार बार रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया है। इसी तरह हिन्दी में पुराने नाटक हैं, नए आ रहे हैं और रंगमंच के लोग भी नए नाटक खोज रहे हैं। हमें कुछ नई चीज़ पेश करनी है, इसका उत्साह और तड़प पैदा हुई है, ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है।

जब मैंने नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में अपना कोर्स पूरा किया था तो मेरे शोध का विषय था- 'भारतीयता की खोज'। मुझे एक पायलट प्रोजेक्ट के लिए फेलोशिप दी गई थी विषय था 'भारतीय थिएटर में भारतीयता की खोज।' अपनी जड़ों से हम जुड़े पाएँ, जड़ों से रिश्ता निर्मित हो। ख़ासतौर पर शहरों के लोगों का इन सब बातों से कितना संबंध बना रहता है, यह एक सवाल रहता है। अपनी संस्कृति, अपनी लोक संस्कृति, आदिवासी संस्कृति से रंगमंच की नई पीढ़ी की नाल जुड़नी चाहिए। इस विचार में से यह पायलट प्रोजेक्ट निकला था। उसके नाट्य, पारंपरिक नाट्य यह सब देखा। तलाश थी कि भारतीयता जैसा कोई रसायन मौजूद है क्या। शुरुआत यहीं से हुई कि भारतीयता यानी क्या। यह कोई अमूर्त विचार है या हक़ीक़त है या ज़िंदगी जीने का नज़रिया है कि वैचारिक दृष्टिकोण है। वह खोज अब भी खत्म नहीं हुई है और मैं मानता हूँ कि भारतीयता नाम की जो चीज़ है वह इतनी छोटी नहीं है। वह असीमित है, व्यापक है। यदि हम इस देश की संस्कृति को गंभीरता से समझें तो एक ज़िंदगी काफ़ी नहीं होगी। इतनी विविधता, इतनी किस्में हैं कि एक कला देखकर, दूसरी देखें तो लगता ही नहीं कि यह भी अपनी ही है। इतनी विविधता और कॉन्ट्रास्ट हमारी अभिव्यक्ति में है।

इतनी विविधता में से हम कोई ऐसी समानता निकाल सकते हैं क्या कि फ़र्क किया जा सके कि यह भारतीय नाटक और यह पश्चिमी नाटक। सिर्फ विषय के आधार पर यह फ़र्क नहीं हो सकता। शेक्सपीयर के नाटक भारत में खेले जाएं तो वे भारतीय हो गए क्या? या हमने केवल भारतीय कपड़े उस पर चढ़ा दिए हैं। नाटक की आत्मा भारतीय हो, बाद भी जारी है। यदि किसी नाटक में यहाँ की सुगंध मिलती है, देश की मिट्टी में उसकी नाल जुड़ी हुई लगती है, यहां का ताल-लय सब नजर आता है तो उसका कारण यह होता है कि नाटककार के रक्त में कहीं वह भारतीयता मौजूद होती है। वह किसी न किसी कला के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

थिएटर, फिल्म, साहित्य उनका असर होता है। तत्काल तो नहीं होता। धीरे-धीरे कुछ दिनों बाद वह नज़र आता है। कुछ सालों बाद और कुछ असर तो दशकों बाद नज़र आता है। कुछ शतकों बाद भी होता है, पर होता जरूर है। वरना यह सब करने का कुछ मतलब ही नहीं है।

समाज पर प्रभाव की बात करें तो थिएटर, फिल्म, साहित्य उनका असर तो होता है। तत्काल तो नहीं होता। धीरे-धीरे कुछ दिनों बाद वह नज़र आता है। कुछ सालों बाद और कुछ असर तो दशकों बाद नज़र आता है। कुछ शतकों बाद भी होता है पर होता जरूर है। वरना यह सब करने का कुछ मतलब ही नहीं है। फिर तो हमारी सारी कहानी निरर्थक हो जाएगी, ज़िंदगी निरर्थक हो जाएगी। जैसे मेरा नाटक 'जुलवा' है या 'जानेमन है।' जानेमन देखने के अगले दिन से ही लोगों का किन्नरों को देखने का नज़रिया बदल जाता है। हज़ारों लोगों ने मुझसे यह बात कही है। ख्यात रंगकर्मी नाटक देखकर घर जा रहे थे, तो राह में किन्नर नजर आए। वे कभी किन्नरों को देखकर कार के कांच नहीं खोलते थे। उस दिन उन्होंने पहली बार किन्नर को बुलाकर पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है, तुम कहां से हो, तुम कैसे हो? उन्हें इंसान मानने की शुरुआत उस नाटक की देन है। कुछ नाटक तत्काल परिवर्तन लाते हैं। ज़्यादा कुछ नहीं तो आपकी सोच और रुचि में सम्पन्नता तो निश्चित ही लाते हैं। संवेदनशील लोगों की संवेदना में बहुत अंतर होता है। इसीलिए तो हम लोग पागलों की तरह नाटक करते हैं चाहे उससे हमें कुछ मिले या न मिले। नाटक देखने वाला दर्शक भी उसे इतना रिस्पॉन्स इसीलिए देता है। उसे नाटक व सिनेमा का विकल्प दो तो वह नाटक को चुनेगा और महाराष्ट्र इसका बहुत बड़ा उदाहरण है। एक सशक्त उदाहरण हमारे स्वतंत्रता संग्राम में मिलता है। लोगों को जागरूक बनाने का बहुत-सा श्रेय कला को है। कला का उद्देश्य केवल वास्तविकता दिखाना नहीं होता। वास्तविकता से परे क्या ज़िंदगी है, क्या सोच है, क्या आशावाद है, क्या हो सकता है आगे चलकर, यह दिखाने का मतलब कला है। लाइफ बियांड रिअलिटी। इसीलिए लोग कला की ओर आकर्षित होते हैं। हक़ीक़त तो हमारे सामने है, लेकिन हम कला देखने जाते हैं तो वह हमें हक़ीक़त से परे ले जाती है। यही वजह है कि कला हमें ज़्यादा व्यापक और समृद्ध लगती है। रामनगर की रामलीला इसका उदाहरण है। वह कुछ मिनटों में कहा जा सकने वाला विषय नहीं है। तीस और प्रस्तुति की अनौपचारिकता। वहाँ दर्शक, पात्र और प्रस्तुतकर्ता सबका मिश्रण हो जाता है। वह कभी दर्शक हो जाता है, कभी अभिनेता हो जाता है। राम का जन्म हो गया। चार लाइनें बोल दीं। अब राम बड़े हो गए। फिर उन्हें कंधे पर बैठाकर ले जाते हैं और पूरा आडियंस उसके पीछे-पीछे वहाँ जाकर राम बड़े हो गए, खेलने लगे तो वहाँ फिर चार डायलॉग हैं। इससे जो माहौल तैयार होता है कला और श्रद्धा यानी कला का अध्यात्म। मैं रिलिजियस स्पिरिचुअलिज्म की बात नहीं कर रहा हूँ।

ऐसी कला देखने के बाद वह आपके जीवन का हिस्सा बन जाती है। यह उसकी रचना और सोच में ही है। घर बैठकर उसे कितना ही बयान करें उसे अनुभव नहीं किया जा सकता, लेकिन आप वहाँ चले जाएं तो दो दिन में ही हो जाएगा।

भाषा का अभिनय हो जाना

कथाकार-उपन्यासकार संतोष चौबे के षष्टिपूर्ति प्रसंग के निमित्त भारत भवन भोपाल में कहानी और रंगमंच के अंतर्संबंधों पर संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संवाद में हिन्दी के वरिष्ठ नाटककार नंदकिशोर आचार्य की अध्यक्षता में देवेंद्र राज अंकुर, राजेश जोशी, रामप्रकाश, आलोक चटर्जी, संजय मेहता आदि ने वैचारिक उपस्थिति दर्ज की। रंग संवाद के इस अंक में नंदकिशोर आचार्य का अविकल उद्‌बोधन।

मैं यह मानता हूँ कि कहानी का वाचन भी अगर आप आँख बंद करके सुनेंगे तो उसे देखना होता है। आपके भावना पटल पर वो घटनाएँ घटित होती दिखाई देती हैं अगर वाचन करने वाले व्यक्ति में भाषा के प्रति उतनी सजगता, उतनी संवेदनशीलता है तो। क्योंकि मुख्य तथा पारंपरिक रूप से देखें तो कहानियों को कहने के तीन ढंग अपने यहाँ दिखाई देते हैं। चाहे वो संस्कृत में लिखे नाटक हों या आज लिखे नाटक, वो कहीं ना कहीं कहानियों का नाट्य रूपांतरण है। यानि वो कहानी लेखक के अपने मन में है। या तो पौराणिक कहानी है या ऐतिहासिक घटना है तो उसको एक नाट्य प्रस्तुति के रूप में देखा जा सकता है। जैसे कल आपने देखा 'सुकरात'। अब 'सुकरात' एक कहानी है वो नाटक नहीं है।

आपने शाम को एक रूप और देखा। एक कहानी की वो नाट्य प्रस्तुति थी। दोनों के बीच फर्क आपको महसूस हुआ होगा कि आपने सुबह देखा तो लगा होगा कि नाटक देख रहे हैं और शाम को आपने देखा- कहानी को घटित होता हुआ देख रहे हैं। दोनों में फर्क है। दोनों की मंचीय प्रस्तुति में और नाट्य रूपांतरण में लेकिन हमारे यहाँ पर और तीसरा जिसका जिक्र अंकुरजी ने किया। एक नैरेटर खुद ही अपनी कहानी पढ़ दे, आपके सामने सुना दे, ये तीनों ढंग हमारे यहाँ परंपरा में रहे हैं। पहला ढंग हमारा कि दुनिया भर के एपिक से लेकर के वहाँ के चरित्र से कोई कहानी उठा कर नाटक लिखे और प्रस्तुत किये। ये उप कहानियों का नाट्य रुपांतरण या लेखक के मन में जो आया जो कहानी उसने बुनी उसका नाट्य रूपांतरण था। दूसरे में नैरेटर खुद एक नाट्य पाठ करता है आपके सामने।

हमारे यहाँ एक परंपरा रही है। कथा वाचकों की और दास्तांगोई की परंपरा। वाकिफ हैं तो आप पायेंगे कि एक दास्तांगो एक आदमी या दो आदमी होते हैं और वो एक कहानी आपको

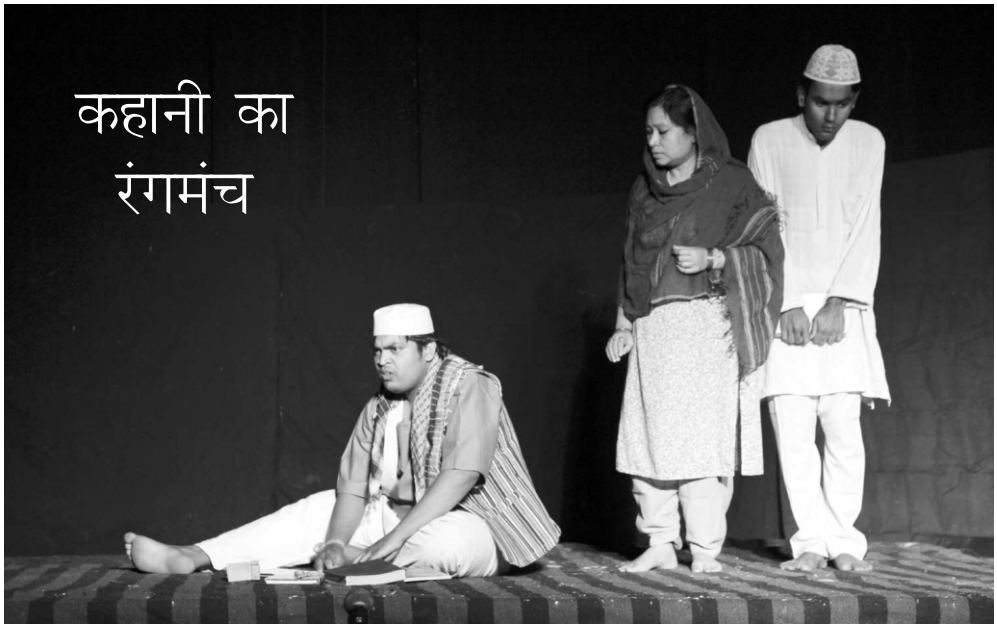

वनमाली की कहानी 'ज़िल्दसाज़' : निर्देशन - संजय मेहता

विमर्श

नंदकिशोर आचार्य

सुना रहे होते हैं तो आपको लगता है कि घटना आपके सामने घटित हो रही है। वो नाटक नहीं कर रहे वो अपनी आवाज़ से, अपनी वाचिक से उसे संप्रेषित कर रहे हैं। जिसका ज़िक्र आलोक चटर्जी कर रहे थे। उन घटनाओं का होना उस वाचिक से आपका अनुभव होता है। अगर ऐसा नहीं होता तो नाट्य शास्त्र में वाचिक को अभिनय का एक प्रकार क्यों माना गया होता।

इस बात पर गौर करिये कि हमारे यहाँ पर अभिनय के जितने प्रकार बताये गये हैं सभी दुनियाभर में वही प्रकार हैं। उसमें वाचिक एक प्रमुख प्रकार है। ये वाचिक है क्या? भाषा का

खुद अभिनय हो जाना। कुछ भी पढ़ देना वाचिक नहीं है। काव्य दृश्य बन जाता है। तो काव्य के दो प्रकार माने गये हैं। दृश्य और काव्य मूलतः एक ही हैं क्योंकि काव्य तो दोनों हैं। आप रेडियो नाटक में क्या करते हैं। आप सुनते हैं, देखते थोड़े ही हैं लेकिन सुनते हुये आपको ये लगता है कि आप नाटक देख रहे हैं। तो ये भाषा का अभिनय हो जाना यानी सुनने का देखना हो जाना होता है। इसीलिये अगर एक दास्तागो जिसे हमारे राजस्थान में कहते हैं बातपोश। बात जो सुनता है तो बात वो रातभर सुनाते हैं। सैकड़ों की संख्या में लोग सुनते थे और लगातार उसको इस तरह सुनते रहते थे जैसे घटना उनके सामने घटित हो रही है। तो सुनाने की जो शैली है वो नाटकीय है।

तीसरा प्रकार है... जिसमें वो कहानी सुना रहा है और अभिनय भी कर रहा है।उसके पास कोई प्रॉपर्टीज नहीं होती। बीच में गा रहा होता है तो वह गायक भी है कथा वाचक भी है। वो अभिनेता भी है और नैरेटर भी। तीजन बाई की अगर आप बात करें तो वो जो प्रस्तुति देती हैं उसमें एक कथा सुनाई जा रही है और उसमें कई कैरेक्टर्स आते हैं जो वो स्वयं हो जाती हैं और एक तरीके से जो तंबूरा उनके हाथ में है उसकी गदा भी बना लेती हैं, उसी को धनुष भी बना लेती हैं, उसी से सारा काम चलाती हैं तो एक प्रकार से ये भी नाट्य का एक रूप है। तो मेरा कहने का तात्पर्य ये है कि हमारी अपनी परंपरा को देखें तो ये एक ऐसी परंपरा रही है जिसमें तीनों प्रकार हैं और ये तीनों कहानी को प्रस्तुत करने के भिन्न-भिन्न ढंग हैं।

ब्रेख्त की कहानी सुकरात : निर्देशन मनोज नायर

जहाँ भाव है, वहाँ अभिनय है। इस चीज़ को समझने की जरूरत है। इसीलिये नाट्यात्मकता को कोई अलग से ढूँढने की जरूरत नहीं है। कोई भी अच्छी कहानी भाषा, भाव सघनता और द्वंदात्मकता के बीच प्रकट होती है।

अब सवाल इसमें सिर्फ ये उठता है कि भाषा अभिनय कब होती है। राजेश ने बहुत अच्छा निर्मलजी की कहानी को लेकर सवाल किया था कि वो तो नैरेशन ही है उसमें घटनायें नहीं हैं। अगर नेरेशन ही है और मेरे ख्याल से 'तीन एकांत' नाम से तीन कहानियाँ अंकुरजी ने की थीं उसमें भी वैसी ही कहानियाँ हैं। इसे समझने की जरूरत है कि भाषा काव्य तभी होती है, शब्द काव्य तभी होता है जिसमें एक भावात्मक सघनता या एक भावात्मक आकुलता प्रकट हो। अगर वो नहीं है, केवल विवरण है तो वो काव्य का दर्जा हासिल नहीं करता। भाषा या शब्द भाव सघन रूप से प्रस्तुत हो। तो जहाँ भाव है, वहाँ अभिनय है। इस चीज़ को समझने की जरूरत है। इसीलिये नाट्यात्मकता को कोई अलग से ढूँढने की जरूरत नहीं है। अंकुरजी सहमत होंगे कोई भी अच्छी कहानी भाषा, भाव सघनता और द्वंदात्मकता के बीच प्रकट होती है। क्या रोमेंटिक ड्रामा नहीं लिखे गये हैं? क्या एक ही भाव को चित्रित करने वाले नाटक नहीं लिखे गये हैं? ऐसा नहीं है कि वो नाटक नहीं लिखे गये। द्वंद भी जीवन का एक हिस्सा है और दूसरे भी जीवन के बहुत से हिस्से हैं। मतलब द्वंदात्मकता नहीं है तो नाटक नहीं है। ये देखने की आवश्यकता है कि भावनात्मक सघनता यदि नाटक में है तो वो नाटक है और वो नाटक विशेष घटनाओं को लेकर के हो या सामान्य जीवन की घटनाओं को लेकर हो। जैसे चौबेजी की कहानियों के बारे में कहा गया कि वो सामान्य जीवन की घटनायें उठाती हैं। वे कहते हैं कि भावानुभूत ज्ञान ही साहित्य है। ये जो भावानुभूत ज्ञान है वो ही काव्य ज्ञान, साहित्य या कला है। यही मर्म समझने की जरूरत है।

कबीर के बारे में मुक्तिबोध कहते हैं कि जहाँ पर जीवन को मस्त होकर गाता है वहाँ तो वो कवि है और जहाँ वो दर्शन वगैरह में चला जाता है, वहाँ कवि नहीं है। दर्शन का एक अलग क्षेत्र है और उसका स्टैंडर्ड भी अलग है। इसीलिये हमें ये समझने की आवश्यकता होती है कि हर कहानी, हर कविता, हर उपन्यास नाटक है। उसको किया जाये या किया नहीं जाये ये अलग बात है। सारे चरित्र जो आपने देखे चौबे जी की जो कहानियों में ये सारे चरित्र नैरेटर भी हैं। वो चारों-पाँचों कथावाचक भी हैं और अभिनेता भी हैं। आजकल भी ऐसे नाटक लिखे जाते हैं जिसमें प्राचीन सूत्रधार जैसी परंपरा नहीं रही है लेकिन एक चरित्र है जो आपको सब दिखा रहा है और वो खुद इसके अंदर है। एक पात्र भी है ये ठीक वैसा ही है जैसे रामायण और महाभारत में व्यास और वाल्मिकी पात्र भी हैं और नैरेटर भी। आप देखिये कि हर अच्छी कहानी नाटक है क्योंकि उसके मंच पर दिखाने का साहस उसकी भाषा, उसके वाचन में है। जब अभिनेता वाचक हो जाता है तो और भी अच्छा अभिव्यक्ति होता है। सारी कला अभिव्यक्ति से पहले सब होती है। जो अभिव्यक्ति हो रही है वो अभिव्यक्ति ही नहीं अन्वेषण भी है साथ में अन्वेषण ही एक तरह का संप्रेषणात्मक अन्वेषण है या अन्वेषणात्मक संप्रेषण है वो सब होता है तभी कला बनती है। कम्यूनिकेशन भी

संतोष चौबे की कहानी 'गरीब नवाज' निर्देशन : देवेन्द्र राज अंकुर

तभी होता है। अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति तो अन्यथा आप कहें तो विज्ञान के लेख में भी होती है। उसमें एक विचार अभिव्यक्त किया गया होता है पर उसे हम कला नहीं कहते। किसी विधा में इसे डालना अनिवार्य नहीं है। आवश्यक है ये कि भावात्मक संप्रेषण करती है वो कृति आपके सामने नाट्य प्रस्तुति, पाठ्य प्रस्तुति के रूप में, एक काव्य प्रस्तुति के रूप में प्रकट होती है। और वो ऐसा करती है तो वो एक सफल कृति है। इसे नाम आप क्या दें?

उसको आप कहानी का रंगमंच कहें, कविता का रंगमंच कहें, रंगमंच कहें, कि कहानी का पाठ कहें इत्यादि। उससे कोई लंबा चौड़ा फर्क वास्तविक स्तर पर नहीं पड़ता है। इस बात पर ध्यान देने की जरूरत है कि उसमें जो भावात्मक सघनता है उसको ना भूलें। अक्सर कहानीकारों या गद्य लेखकों के साथ होता है कि वे कोई निष्कर्ष देने के लोभ से नहीं बच पाते और एक विचार के रूप में निष्कर्ष के रूप में कुछ पंक्तियाँ देते हैं। आप देखेंगे महाभारत में कितनी नीतियाँ बताई गई हैं। वे सब काव्य नहीं हैं। काव्य वही है जहाँ पर भावनात्मक आकुलता और सघनता है। आप गीता को पढ़ेंगे तो जहाँ विराट पुरुष का वर्णन होता है वहाँ वो काव्य है, सारा वर्णन काव्य है। अभिभूत हो जाते हैं आप उसको पढ़ते हुये। बाकी जो उपदेश पढ़ते हैं वो काव्य नहीं है। दर्सन ऊँचा हो सकता है। जिस समय आप रामानुजाचार्य का दर्शन पढ़ते हैं या वल्लभाचार्य का, वो दर्शन होगा, सूरदास का काव्य होगा चाहे वो उस दर्शन से प्रभावित होकर लिखा गया हो। तो ये जो फर्क है, भावनात्मकता का, अनुभूति का और एक वैचारिक बहस का, तो विचार प्रकट करने के पचासों तरीके हो सकते हैं। उन दोनों में फर्क करें, तो जिन कहानियों में, जिस गद्य में, जिन कविताओं में ऐसा होता है, वो फिर वहाँ पर थोड़ा चूक जाती हैं उतनी श्रेष्ठ कृति बनने से जितनी वो हो सकती थी। क्योंकि वो भाव जो अंत में कहा गया आपके मन में आ जाना चाहिये उसके पढ़ते हुये या देखते हुये अगर आपके मन में वो भाव आ गया तो वो सफल कृति है। उसको अलग से कहने की जरूरत पड़ती है तो अपने मन में संदेह बना रहता है।

चौबे जी की कहानियाँ मैंने कुछ ही अरसा पहले पढ़ी हैं। यूँ समझिये कि इसी सप्ताह पढ़ीं। एकाध पहले कभी पढ़ी थी। लेकिन इतना गौर नहीं किया था और कल जब देखा तो मुझे ये लगता है कि जैसा कहा गया और सभी लोगों ने कहा उसमें कुछ अनुचित नहीं है कि उन कहानियों के अंदर एक भवात्मकता हर जगह मौजूद है और उसी के कारण से वो मंचीय कृति बनती है। लेकिन एकाध जगह पर ऐसा लगा कि कहीं-कहीं वे स्पष्टीकरण देने के लोभ से नहीं बच पाते या कहीं-कहीं वैचारिक बहस उसमें आ जाती है। जैसे कल की बात करें तो हम पायेंगे कि बहुत अच्छा सारा विवरण चल रहा है अभिनय भी हो रहा है और उसके बीच में वेजेटेरियनस्म को लेकर एक बहस आ जाती है। हमें मालूम है कि कहानी में विश्वमोहन एक भावात्मक स्तर पर शाकाहार से जुड़ गया क्योंकि जो घटना देखी उसने बचपन में एक मनोवैज्ञानिक गहरा प्रभाव उसके मन में पड़ा लेकिन जब हम ये कहते हैं कि साइंस ये बताता है, धर्म ये बताता है तो एक ये वैचारिक बहस बन जाती है और मेरी तुच्छ राय से ये थोड़ा उस प्रभाव को बढ़ाने की बजाय कम कर देती है।

नाट्य कृति के रूप में और मैं कहूँगा कि कथा कृति के रूप में भी ऐसी स्थिति में वो जो विवरण है वहीं पर अवांछनीय होता है जहाँ पर उसमें भावात्मक सघनता नहीं होती जहाँ वो केवल सूचनात्मक होता है केवल एक वैचारिक बहस तात्विक बन जाता है उस तरह का जो नैरेशन है वो कृति को नुकसान पहुँचाता है चाहे मंतव्य कितना ही महान हो लेकिन वो कृति को नुकसान पहुँचाने वाला होता है। मुझे तो सबसे अच्छी कहानी 'बीच प्रेम में गांधी' लगी थी। यानी एक तरीके से उसे करना मुश्किल है उसका केवल वर्णन किया जा सकता था। लेकिन इस तरह की जो सूक्ष्म भाव वाली कहानी होती है जो अभिनय के लिये भी वाचन के लिये भी और प्रस्तुति के लिये भी और प्रस्तुति के लिये भी ज्यादा स्किल की मांग करती है अपने में डूब जाने की मांग करती है और डूब करते अपने से बाहर आने की मांग भी करती है, अपने को डूबे हुये देखना जिसे साक्षी भाव कहा गया है वही कला है। वो अभिनय में भी है लेखन में भी है और अन्य कलाओं के अंदर भी तो इसीलिये मुझे लगता है कि ये अगर हम इस चीज का ध्यान रखें शायद ज्यादा बेहतर कहानियाँ हो पायेंगी, ज्यादा बेहतर कवितायें हो पायेंगी, तो ये समझना जरूरी है। इस चीज़ को अगर हम समझें तो हम कहानी के रंगमंच को लेकर के जो सवाल उठ रहे हैं उनको हम एक सही परिप्रेक्ष्य में रखकर देख पायेंगे।

आयाम

कमल कुमार

रंगपटल पर
औरत के नए अक्स

21वीं सदी के पहले दशक में एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में सामाजिक स्तर पर स्त्रियों की चेतना का जाग्रत होना है। इसकी अभिव्यक्ति कई स्तरों पर दृष्टिगत होती है, जैसे सामाजिक परिदृश्य में, मीडिया में, साहित्य में और रंगमचीय प्रस्तुतियों में। एक सच यह भी है कि स्त्रियां अपनी अभिव्यक्ति ख़ामोश रहकर ही नहीं, अपने आक्रोश और तीव्र आवेग में बारूद की तरह फट पड़ने में भी कर रही हैं। आज का सच यह है कि एक तरफ़ औरतें 'दमन' का शिकार हैं, वहीं उनकी 'आवाज़' दूर तक सुनी जा सकती है। इस विरोधाभास के बीच पश्चिमी और भारतीय संस्कृति, शहरी और ग्रामीण परिदृश्य, छोटे कस्बों, आदिवासी जनसमूहों की जीवन शैली के साथ महानगरों की अलग-थलग दुनिया है। एक ओर वे ग़ुलामी का जीवन जी रही हैं, दूसरी ओर वे नितांत स्वायत्त और स्वतंत्र भी हैं। इसलिए आज की साहित्यिक और रंगमंचीय अभिव्यक्तियों में अनेकों विरोधाभास देखे जा सकते हैं। ऐसी सशक्त औरतें हर क्षेत्र में हैं। तो भी, सच यह भी है कि विश्वभर में औरतें शोषित ओर दमन की शिकार हैं। उन्हें दोयम दर्जे का नागरिक माना जाता है। धर्म और परिवार स्त्री पर पुरुष के वर्चस्व को मान्यता देता है। संयुक्त परिवार की व्यवस्था ने विशेष रूप से औरत को 'दास्तां और दमन' का शिकार बनाकर उसे गौरवान्वित किया। इसलिए नई आर्थिक व्यवस्था में जब संयुक्त परिवार व्यवस्था टूटी, साथ ही औरतों ने पुरुष की सामंतशाही के विरोध में हर स्तर पर युद्ध छेड़ दिया।

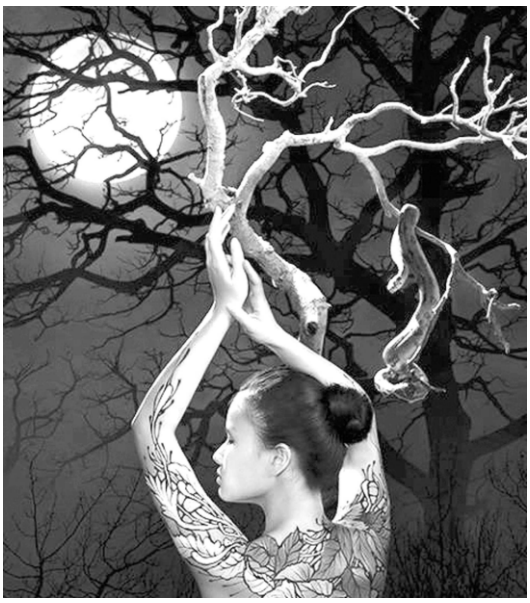

आज़ादी के बाद के नाटकों और रंगमंच पर ध्यान दें तो औरत की स्वतंत्र, स्वायत्त, व्यक्तिवादी छवि के पीछे के कड़वे सच को देखा जा सकता है। वैसे बीसवीं शताब्दी का आरंभ ही नाट्य साहित्य वेे एक समग्र नाट्य आंदोलन से होता है।

सांस्कृतिक जागरण, सामाजिक उत्थान, ब्रिटिश हुकूमत से मुक्त, राष्ट्रीय जागरण और आधुनिकता के सवालों से नाटक ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जयशंकर प्रसाद ने औरत की छवि दो ध्रुवों पर चित्रित की। एक वह जो अप्रतिम सुंदरी, विनयशील, त्याग की मूर्ति, क्षमापूर्ण, दयापूर्ण और अनुगामिनी है और पुरुष का मन जीत लेती है। दूसरी वह, जो महत्वाकांक्षी, गर्वान्वित, कामुक और कामनाओं से प्रेरित है। इस औरत की नियति परास्त होना, दुख उठाना और अंत में मारे जाना या मर जाना है। प्रसाद की औरत का सच पहले ध्रुवांत की औरत है। लेकिन 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद ने एक जाग्रत औरत को चित्रित किया है। जो स्वतंत्र रूप से निर्णय लेती है, स्वामिनी, विद्रोही और बौद्धिक है। वह नपुंसक और भयातुर पति रामगुप्त की अपेक्षा साहसी और श्रेष्ठ चंद्रगुप्त का वरण करती है। ध्रुवस्वामिनी में अगली पीढ़ियों की आधुनिक औरत का रूप प्रतिबिंबित होता है। साथ ही, सामाजिक व्यवस्था पर भी प्रहार है। स्वाधीनता आंदोलन में भागीदारी के कारण स्त्रियां सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर अधिक सशक्त भूमिकाओं में भी आईं। धर्मवीर भारती के 'अंधा युग' में गांधारी भगवान कृष्ण को चेतावनी देती है। 'मम्दा कैक्टस' की सुजाता पति द्वारा उपेक्षा और छोड़ दिए जाने पर अपने लिए संघर्ष का मार्ग चुनती है और अपनी नई पहचान और प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। इसी समय में लिखा और मंचित हुआ 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास की प्रेमिका मल्लिका को भावमयी, निष्ठावान और त्यागमयी दिखाया है जो जीवन के कड़वे सच से परे अपनी बनाई एक भावात्मक दुनिया में चली जाती है जबकि कालिदास के एक के बाद एक धोखे के बाद भी उस पर अपना अधिकार नहीं जताती। यही परंपरागत आदर्श औरत है जो त्यागमयी, समर्पित पर 'प्रसन्न' है। इसके विपरीत मोहन राकेश 'लहरों के राजहंस' में बिल्कुल अलग औरत 'सुंदरी' में चित्रित करते हैं। वह सुंदर और 'गर्विता' है जो अपने पति पर अपना पूरा नियंत्रण और अधिकार चाहती है। बाह्य रूप से वह विद्रोही और सशक्त प्रतीत होती है, परंतु जब नंदा का पति उसे छोड़ देता है तो वह अपने पर नियंत्रण खोकर रोती चिल्लाती है। इस तरह संभवतया नाटककार का आशय है कि औरत चाहे कितनी भी स्वतंत्र और सशक्त हो, परंतु पुरुष की सुरक्षा के बिना वह असहाय और दीन-हीन है।

मोहन राकेश ने 'आधे अधूरे' में मध्यमवर्ग की कामकाजी औरत के संघर्ष को दिखाया है। एक तरफ़ अकेली कमाऊ औरत है, दूसरी तरफ़ घर में निठल्ला पति और आवारा बच्चे। सावित्री पतिव्रता, निष्ठावान पत्नी की कैद से मुक्त, बाहर रिश्ता तलाशती है। अपना एक समानांतर संसार रचती है। दूसरी तरफ़, ऐसी औरत घर और बाहर, समाज की हिंसा का शिकार होती है और उसी घर में रहने के नरक को भोगने पर भी विवश होती है। मोहन राकेश क्यों सावित्री को घर की कैद से मुक्त नहीं करते? क्या उसी पुरुषवादी सोच के कारण? विजय तेंदुलकर के भी लगभग सभी नाटकों में स्त्री पात्र स्वतंत्र, स्वावलंबी और स्व-आग्रही हैं पर वे पुरुष के हाथों सभी प्रकार की हिंसा सहने को विवश हो जाती हैं, क्यों? इसके बाद सन् 1970 के बाद स्त्री-पुरुष समीकरण बदले। परिवार और समाज में भी परिवर्तन की प्रक्रिया में उदारता आई। इसी कारण सुरेंद्र वर्मा और रमेश बक्षी के नाटकों में प्रेम सैक्स में परिवर्तित हो गया। सुरेंद्र वर्मा का नाटक 'द्रौपदी' इस विषय को चमत्कारिक रूप से उठाता तो है, परंतु अंतिम रूप से औरत फिर 'वस्तु' हो जाती है। पुरुष के लिए उसकी संतुष्टि के लिए 'उपभोक्ता वस्तु'। शंकर शेष के रक्तबीज में भी यही हुआ। सुरेंद्र वर्मा के 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक' में शीलवती को नाटककार ने अपनी अलग पहचान दी है। नपुंसक ओकाक की वह निष्ठावान और समर्पित पत्नी के रूप में खुश है। लेकिन जब 'नियोग' से उसे संतान प्राप्ति के लिए दूसरे पुरुष के पास जाने को विवश किया जाता है तब वहां उसे आत्मबोध होता है कि वह अपनी और समाज की सारी श्रृंखलाओं को तोड़कर एक स्वतंत्र चेता स्त्री के रूप में कर्तव्य, नैतिकता, मर्यादा जैसी खोखली मान्यताओं की धज्जियाँ उड़ाती है। उसका यह अनुभव उसे औरत होने की एक नई और सच्ची अनुभूति देता है।

औरत होने की सार्थकता मातृत्व में नहीं है, बल्कि पुरुष के साथ प्राप्त सुख में है। उसकी आवाज़ एक अत्याधुनिक पश्चिमी, स्वतंत्र और स्वायत्त औरत की आवाज़ हो जाती है। उसे लगता है, एक पुरुष कैसे औरत को पूर्ण सुख दे सकता है? उसे एक से अधिक पुरुष चाहिए संतुष्टि के लिए। एक पुरुष उसे समाज में प्रतिष्ठा देगा, दूसरा भौतिक ज़रूरतों को पूरा करेगा, तीसरा पुरुष भावनाओं की पूर्ति के लिए और चौथा दैहिक सुख के लिए होगा। शीलवती की यह अवधारणा, उसका भौतिक देहवाद मान्य सभी नैतिक मूल्यों को ठुकराकर औरत के बहुपुरुष संबंधों की पैरवी करता है। सुरेंद्र वर्मा के ही नाटक 'शकुंतला' में पौराणिक शकुंतला के मिथ को तोड़ आज की औरत के रूपक में ढालता है।

रमेश बक्षी ने संभवतः सबसे पहले विवाह की संस्था पर प्रश्न उठाया। 'देवयानी का कहना है' में शीलवती की तरह देवयानी कहती है एक 'सेब' (पुरुष) जीवनभर के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। वह दूसरे पुरुष साधन से विवाह इसलिए करना चाहती है क्योंकि 'विवाह से बाहर सैक्स बहुत महंगा होता है', देवयानी और साधन साथ रहते हैं, पर दूसरों के सामने विवाहित होने का आडंबर करते हैं। वह एक नए रिश्ते में रहना चाहते हैं। पर पहले दिन से ही उनमें टकराहट होती है। देवयानी वेश्या की भूमिका में आ जाती है। तीसरे दिन दिया जाने वाला 'शादी का स्वागत समारोह' विवाह की रस्म बन जाता है। देवयानी एक असुरक्षित भविष्य को स्वीकार करती है। ऐसी महत्वाकांक्षी और व्यक्तिवादी औरतों के लिए अपना स्वार्थ और अपना हित महत्वपूर्ण है। विवाह के बंधन नहीं। सवाल यह भी है कि ऐसी औरतें हमारे समाज के कौन-से वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं? मध्यम वर्ग शिक्षित, स्वावलंबी या उच्च वर्ग की संपन्न औरत ही ऐसी हिमाकत कर सकती है। दूसरी ओर, सच यह भी है कि विवाह की संस्था स्त्री की सुरक्षा और एक सामाजिक व्यवस्था के नियमन के लिए थी। लेकिन वही संस्था उसके लिए नरक और क़ैद बन जाती है। हमारी धार्मिक मान्यताएं, परंपराएं और रूढ़ियां भी औरत के विरोध में हैं। स्त्री स्वतंत्रता आंदोलनों ने भी परिवारों की शोषक व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं डाला जबकि स्त्री की पवित्रता, नैतिकता और पत्निवादी निष्ठा को लेकर 'सोच' में कुछ परिवर्तन हुआ। लेकिन इसके तहत परिवार से बाहर आई औरत का पुरुष वर्ग ने दूसरी तरह से दोहन किया। सिर्फ़ पूर्वी समाज ही नहीं, पश्चिमी समाज में भी अकेली औरतों का उतना ही शोषण होता है। 'ऑन द पॉलिटिक्स ऑफ इलुजन' में केशव रॉओ ने लिखा है, पुरुष ही संस्थाओं और संस्थानों के स्वामी हैं।

हमारी धार्मिक मान्यताएँ, परंपराएँ और रूढ़ियाँ भी औरत के विरोध में हैं। स्त्री स्वतंत्रता आंदोलनों ने भी परिवारों की शोषक व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं डाला जबकि स्त्री की पवित्रता, नैतिकता और पत्निवादी निष्ठा को लेकर 'सोच' में कुछ परिवर्तन हुआ। लेकिन इसके तहत परिवार से बाहर आई औरत का पुरुष वर्ग ने दूसरी तरह से दोहन किया। सिर्फ़ पूर्वी समाज ही नहीं, पश्चिमी समाज में भी अकेली औरतों का उतना ही शोषण होता है।

वे अपना वर्चस्व बनाए रखना चाहते हैं। औरत को पुरुष बनाने के लिए उकसाते हैं। स्त्रीवादी आंदोलन और विमर्श न तो पश्चिम में और न ही पूर्वी देशों के समाज में विवाह की संस्था का कोई विकल्प दे पाए हैं। इसलिए विश्वभर में विवाह की संस्था से बाहर औरत का कोई बेहतर और वैकल्पिक भविष्य दिखाई नहीं पड़ता। यह भी सच है कि उत्तर आधुनिक समय, 21वीं शताब्दी में औरतें हर क्षेत्र में पुरुषों की तुलना में बेहतर कर रही हैं। राष्ट्रीय स्तर पर औरतों को लेकर जागृति है। सन् 1991 को बालिका वर्ष घोषित किया गया था। सन 2001 को स्त्री सशक्तिकरण वर्ष की तरह मनाया गया था।

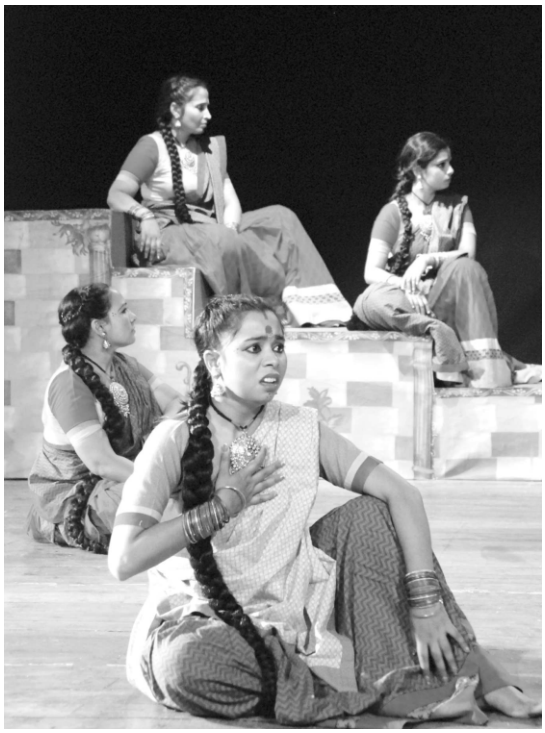

इन सबके बाद भी आम औरत की स्थिति, सामाजिक सोच और आम परिवारों में औरत की स्थिति में क्या अंतर आया है? प्रभाकर श्रोत्रिय का नाटक 'इला' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। प्रकृति के विरुद्ध, इला का लिंग परिवर्तन करवाने के दुष्परिणाम। कारण पिता की बेटा प्राप्त करने की इच्छा। यह स्थिति ज्यों की त्यों हमारे समाज में विद्यमान है। भ्रूण हत्या, नवजात बच्चियों की हत्या और प्रतिवर्ष घटती स्त्रियों की संख्या के आंकड़े देखे जा सकते हैं। ये तब-जब हम सभ्यता और विकास के चरम पर हैं। ये जानकर एक आघात लगता है कि कोर्ट के फ़ैसलों में भी लैंगिक मतभेद निर्णायक की भूमिका में आ जाता है। स्त्री पर यौन अपराधों को लेकर उन्हें ही उत्तरदायी करार कर दिया जाता है।

इन नाटककारों और इनके स्त्री पात्रों की तुलना जब स्त्री नाटककारों के पात्रों से करें तो कुछ अलग ही तथ्य सामने आते हैं। पुरुष नाटककारों की औरतें कहीं ज़्यादा आक्रोशी, आक्रामक और अक्खड़ हैं जबकि स्त्री नाटककारों के स्त्री पात्र, शांत, संयमी, विनम्र, सहानुभूतिपूर्ण और मानवीय हैं। अपने विरोध व्यक्त करने में भी उनमें एक संयम है। जैसे शांति मल्होत्रा का 'हरा हुआ पानी', मन्नु भंडारी का 'बिना दीवारों के घर', मृदुला गर्ग का 'एक और अजनबी' इत्यादि नाटकों के स्त्री पात्रों को देखा जा सकता है। इसी क्रम में कुसुम कुमार का 'सुनो शेफाली' में शेफाली का चरित्र महत्वपूर्ण है। शेफाली हरिजन है पर साहसी, उद्यमी और स्वाभिमानी है। वह समाज के शक्तिशाली, पूंजीवादी और जातिभेद के समर्थकों के विरोध में खड़ी होने का साहस करती है। अपने संघर्ष मे उतर कर भी वह अपनी बहि के साथ उसकी शादी स्वीकृति देकर न्याय नहीं कर पाती। साथ ही, वह अंत में शोषण, अन्याय और शक्ति

माधवी... कमला... ख़ामोश अदालत जारी है

पारिवारिक हिंसा एक आम बात है। हिंसा की शिकार औरत से यही आशा की जाती है कि जो भी हो उसे पति के प्रति अपनी निष्ठा और कर्तव्य निभाने ही चाहिए यदि न्यायपालिका और समाज के कर्ताधर्ताओं की सोच यह है तो आम आदमी की सोच क्या होगी? विजय तेंदुलकर का नाटक 'कमला' औरतों पर हो रही यौन हिंसा को अभिव्यक्त करता है। कमला मध्यप्रदेश की जनजाति की लड़की है जिसे पत्रकार औरतों की बिक्री के लिए लगी मंडी से खरीद लाता है। यह सिद्ध करने के लिए कि आज भी औरतें खरीदी और बेची जाती हैं। पत्रकार की पत्नी, शिक्षित और आधुनिक विचारों की है। उसे एहसास होता है कि उसकी स्थिति कमला से बेहतर नहीं है। इसी क्रम में भीष्म साहनी का नाटक 'माधवी' है जो एक पौराणिक कथा पर आधारित है। जहां राजा ययाति अपनी सुंदर युवा बेटी को एक युवा तपस्वी गालव को दे देता है। माधवी को 'सदैव कौमार्य का वरदान है। गालव को अपने गुरु को दिया वचन पूरा करना है, इसलिए वहाँ उसे अयोध्या, काशी, भोजनगर आदि के राजाओं के पास भेजता है। अंत में उसे राजा के भविष्य के उत्तराधिकारी पुत्र के लिए पूरी तरह से 'सही' सिद्ध करने के लिए उसके शरीर के हर अंग की परीक्षा की जाती है। अंत में इतने पुरुषों के साथ रही माधवी को वापिस अपने साथ पत्नी के रूप में रखने के लिए गालव स्वयं चिंतित हो जाता है। साथ ही, गुरु के साथ रही औरत को वह अपनी पत्नी कैसे मान सकता है? फिर भी गालव उसे अपनाने को तैयार है अगर वह अपना कौमार्य लौटा ले। स्वार्थ, लालसा, खोखली मान्यताओं और परंपराओं वाला पितृसत्तात्मक समाज जहां औरत मात्र एक उपभोग की वस्तु है। उसका अपना न कोई वर्चस्व है और न ही कोई व्यक्तित्व। औरत पर की जाने वाली अदृश्य हिंसा जिसे त्याग, समर्पण और कर्तव्य कहकर गौरवान्वित किया जाता है। उसका दैहिक और मानसिक शोषण जिसकी अनुमति धर्म और समाज के ठेकेदार निर्भीक रूप से पुरुष को प्रदान करते हैं।

इस सबका विरोध तब कैसे हो? भीष्म साहनी की माधवी, गालव के साथ जाने की अपेक्षा वहां से चली जाती है ताकि वह अपने जीने का अर्थ ढूंढ सके और अपनी नई पहचान पा सके। सन 1960 में लिखा गया विजय तेंदुलकर का नाटक 'ख़ामोश अदालत जारी है' की औरत अपने ख़िलाफ़ हो रहे अन्याय को जानती है पर चुप रहती है। वहीं 'कमला' में सरिता, काका साहब से कहती है कि अवश्य ही एक दिन आएगा जब वह ग़ुलाम नहीं होगी। उसकी कोई भी कीमत चुकाने के लिए वह तैयार है। औरत का यही संकल्प उसके लिए किसी बेहतर भविष्य की परिकल्पना कर सकता है।

प्रदर्शनकारियों के विरोध में चुप्पी के समुद्र में डूब जाती है। शेफाली परास्त होती है, वह अकेली और हताश हो जाती है। यह चाहे यथार्थ ही क्यों न हो पर नाटक और रंगमंच के माध्यम पर अपनी परिणति में असफल होता है। लेकिन यह भी सच है कि व्यक्ति अपनी लड़ाई तो लड़ सकता है, परंतु सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध खड़ा नहीं रह सकता। यह सच औरत का ही नहीं, पुरुष का भी है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाटक 'लड़ाई' में सत्यव्रत का भी यही अंत होता है।

इरपींदर पुरी भाटिया का 'बलमजी तुम आगे मैं पीछे' में पुरुष पात्र नहीं है। कई औरतें पात्र हैं। 'करवा चौथ' व्रत तोड़ने के लिए धोखेबाज पति की प्रतीक्षा करती मूर्ख पत्नी के प्रति भी नाटककार सदय हो जाती है। नाटक अपने व्यंग्य को खोकर एक विरोधाभास में अंत होता है। त्रिपुरारी शर्मा निर्देशक के साथ-साथ नाटककार भी हैं जिनके नाटकों में औरत की दशा और सामाजिक सरोकार है। 'बहू' में परिवार की सामंतशाही में एक मध्यमवर्ग की औरत के संघर्ष की कथा है। 'रेशमी रूमाल' में उसी औरत के दमन, दर्द, घुटन और जीवन की विसंगतियों को चित्रित किया गया है। घर की चक्की में पिसती औरत को कुछ विश्रांति लोक संगीत और उत्सव तथा त्यौहारों से मिलती है। परिवार की घुटन, रिश्तों की कड़वाहट त्रासद परिस्थितियां जिनमें वह खटती और रहती है, उसके जीवन को नरक बनाते हैं। पर उसकी नियति उसी में रहने की है। त्रिपुरारी शर्मा 'सन सत्तावन का किस्सा : अज़ीज़ुनिसा' नाटक के कई कारणों से महत्वपूर्ण हैं। शायद इसका कोई ऐतिहासिक आधार हो। एक तरफ़ इसमें सन् 1857 की पृष्ठभूमि में मंगलपांडे जैसे क्रांतिकारी जिन्होंने ब्रिटिश सरकार का विरोध किया। दूसरी ओर, एक वेश्या का जो देशभक्ति से प्रेरित होकर और अपने प्रेमी सिपाही के कारण स्वयं सिपाही बनकर लड़ाई में हिस्सा लेती है, परंतु हार जाती है पर उसे सिपाही मारता नहीं क्योंकि वह औरत है। एक तरफ़ बाजीराव और नाना साहेब जैसे चरित्र हैं। लेकिन केंद्र में एक अनजानी वेश्या है। एक सवाल उठता है क्यों औरतों को अपने को सिद्ध करने के लिए पुरुष बनना पड़ता है? यह सवाल आज भी औरत के संदर्भ में प्रासंगिक है। आज भी औरत अपनी सही अस्मिता और पहचान की लड़ाई लड़ रही है। त्रिपुरारी शर्मा का नाटक 'अक्स पहेली' में कैकेयी, सीता, लैला के मिथकों की नई परिभाषा आज के संदर्भ में की गई है।

'लाडो मौसी' नाटक एक कॉमेडी है। इससे भी औरत की रूढ़ छवि को तोड़ा गया है। यह नाटक ग्राह्म ग्रीन के नाटक ट्रेवल विद माई आंट' से प्रेरित है। एक बुज़ुर्ग औरत का चित्रण है जिसे यात्रा करना पसंद है। नई जगह देखकर उसे खुशी होती है। वह निर्भीक और ऊर्जा से भरपूर है। वह ज़ोखिम भी उठा सकती है इसलिए वह नई राहों पर चल पड़ती है।

वह समय था जब अधिक से अधिक औरतें शिक्षित और प्रशिक्षित हो रही थीं। औरतें स्वतंत्र, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और सामाजिक रूप से जाग्रत हो रही थीं। दूसरी तरफ़, परिवारों में टकराहट बढ़ने लगी थी। क्योंकि औरत की बदलती भूमिका को स्वीकार नहीं किया जा रहा था। तलाक की संख्या बढ़ रही थी। पुनर्विवाह भी हो रहे थे पर संतोष और खुशी तो भी प्राप्त नहीं थी। परिवार और विवाह का विकल्प अब भी कहीं नहीं था। समस्या का समाधान दूर-दूर तक दिखाई नहीं दे रहा था। शायद आज भी हम वहीं या उससे भी आगे परिवारों के विवाह संस्था के विखंडन के युग में आ गए हैं।

जुलवा : निर्देशक - वामन केन्द्रे

नेपथ्य को ठीक-ठीक परिभाषित करना कठिन है। यह बहुत व्यापक परिप्रेक्ष्य और संदर्भ में प्रयुक्त होने वाला शब्द है। हमारे जीवन में जो सामने घटता है वह बहुत थोड़ा होता है। जो अन्दर और भीतरी परतों में घटता है उसकी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। नेपथ्य को यवनिका, अपटी पट, परीं परदा, पिछलई, पीछे का परदा, नेपथ्य शाला, ग्रीनरूम के संदर्भ में याद किया जाता है।

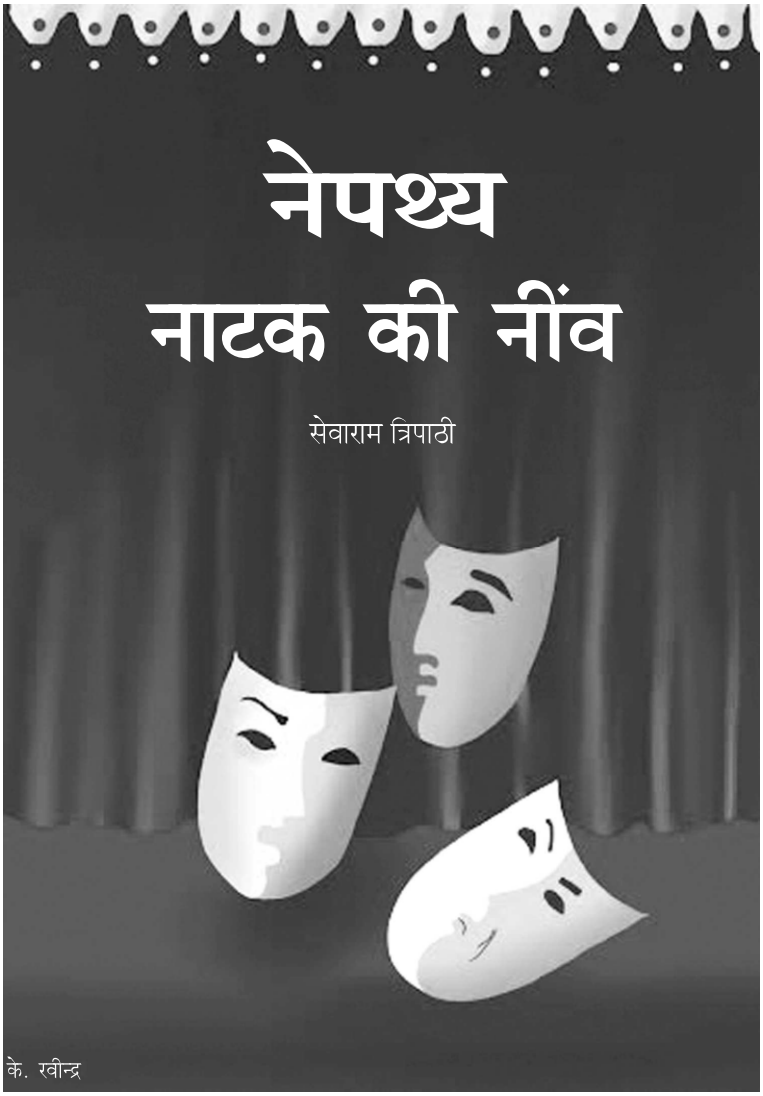

मेरी समझ में नेपथ्य की हैसियत आज के दौर में बहुत बड़ी हो गयी है। अभिनेता, निर्देशक, लेखक और सहयोगकर्ता के बावजूद नेपथ्य बहुत बड़ा प्रभावी और जिम्मेदार हो गया है। अब वह ऐसा वैसा और किसी भी तरह कामचलाऊ नहीं है। नेपथ्य के विभिन्न रूपों और संदर्भों में इतने प्रयोग हुए हैं कि इस क्षेत्र में भी पैसा और शोहरत भी बहुत मिलती है। नेपथ्य में संगीत और संगीत निर्देशन, कास्ट्यूम, प्रापर्टी, संयोजन, सेट, प्रकाश व्यवस्था और हर तरह की व्यवस्था करना और वे अनछुये पहलू भी नेपथ्य में परिगणित हैं। बदले हुये दौर और बदले हुये समय में नेपथ्य निरंतर महत्वपूर्ण हो रहा है। क्योंकि अभिनय निर्देशन तो पूर्व में ही महत्ता प्राप्त रहा है। नेपथ्य को उस रूप में आकलित नहीं किया गया। उसके स्वरूप को विस्तार से समझा ही नहीं गया। हालाँकि कहीं न कहीं नेपथ्य में आने वाले उपक्रमों को थोड़ा सा महत्व मिलता रहा है। अभिनय, निर्देशन एवं लेखन में ही नाटक की समूची अर्थवत्ता समझ ली गई। हालाँकि कहीं न कहीं नेपथ्य में आने वाले उपक्रमों को थोड़ा सा महत्व मिलता रहा है। अब तो वह एकदम अनिवार्य जैसा हो गया है। लेकिन आधुनिक समय में नेपथ्य में परिगणित वस्तुओं के बारे में न केवल गंभीरता से विचार किया जाता बल्कि उन सभी चीज़ों और वास्तविकताओं को सही संदर्भों में पहचाना जा रहा है।

नाटक में रूप धारण करना आज के दौर की घटना नहीं है। यह एक आवश्यक क्रिया है। माना जाता है कि अभिनेता शरीर और अपनी आरंभिक क्रिया में चरित्र के अनुरूप अपना कायाकल्प करता है। अभिनेता अपनी शक्ति और सीमा का यह प्रसंग है। रूप सज्जा में वस्त्र धारण करना (वेशभूषा), चाल-ढाल, मुद्रायें, पदों की गतियों के माध्यम से प्रारंभिक स्तर से लेकर अंतिम स्तरों तक अभिनेता विश्वसनीयता बनाने का कार्य करता है। मुखौटों का व्यवहार करता है। हाँ उसे होना चरित्र परिवेश और समय के अनुसार है। इसमें दृश्यबंधों का संयोजन भी कारगर तरीके से होता है। लेकिन इनका व्यवहार या प्रस्तुतीकरण नेपथ्य में नहीं मंच पर होता है। दृश्यबंधों में भी लगातार परिवर्तन अनुभव किये जा रहे हैं। प्रयोग किये जा रहे हैं। रूपसज्जा और वेशभूषा अभिनेता को नये संदर्भों में चाक्षुष सुन्दरता से दीप्त करने में समर्थ हैं। दर्शक उसके रूप और सौंदर्य को भलीभांति निहारता है। जाहिर है कि अभिनेता में इस माध्यम से नई ऊर्जा और मनोगतिकी प्राप्त होती है। कीर्ति जैन मानती हैं कि ''सबसे ज़रूरी बात जो कि हर तरह की वेशभूषा पर लागू होती है वह यह है कि उसका पहनने वाले अभिनेता से विशेष सम्बन्ध होना चाहिये। इसलिये पात्र को ध्यान में रखना उतना ही ज़रूरी होता है। वेशभूषा की खूबी तभी है जब अभिनेता अपने अभिनय में उसका अर्थपूर्ण एवं प्रभावी उपयोग कर सके।'' (नटरंग-38-39 पृष्ठ 83)

जहाँ तक रंग सामग्री का प्रश्न है। ये सामग्रियाँ भी हमारे जीवन से आती हैं। वस्तुयें कुर्सी टेबिल पलंग या अन्य बीड़ी सिगरेट या अन्य। इससे हर तरह की सामग्री है- ये सभी पहले नेपथ्य में ही

आती हैं बाद में इनका प्रयोग नाटक में या रंगमंच में किया जाता है। जैसी दृश्य की संरचना होगी वैसा उनका प्रयोग होगा। उदाहरण के लिये कालीन, दरी, परदे, फूलदान या इसी तरह की नाटक या रंगमंच से सम्बन्धित सामग्री। इसमें ब्रीफकेस, फाइल, कंघी, शीशा, चश्मा, डण्डा, किताबें और कापियाँ पेन आदि सभी शामिल हैं। दृश्यबंध नाटक की मूलयोजना का हिस्सा है। मंच सज्जा को नाटक के संदेश में सहायक होना चाहिए ताकि दर्शकों तक प्रस्तुतीकरण का मर्म पहुंचे। इसी तरह रंग प्रकाश आज के दौर में रंगमंच में नाटक के प्रस्तुत होने का एकदम अनिवार्य स्वरूप है। प्रकाश व्यवस्था द्वारा किसी तरह का प्रभाव क्षमतापूर्वक डिज़ाइन और संयोजित किया जाये।

रंगमंच में और नाटक में तो नेपथ्य के बिना नाटक के मंचन की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती। सामान्यत: वेशभूषा, अभिनय नाटक आदि में परदे के भीतर का वह स्थान जिसमें नट-नटी और अन्य पात्र नाना प्रकार के वेश धारण करते हैं, उनकी रूप सज्जा होती है, वह नेपथ्य कहलाता है। अंग्रेजी में इसे 'बैक स्टेज' कहते हैं। नाटक तैयारी के साथ जब तक मंच पर प्रदर्शित नहीं हो जाता तब तक वह नेपथ्य की कोटि में ही आता है। नाटक और रंगमंच में प्रयुक्त होने वाले समूचे आहार्य माध्यम भी नेपथ्य में परिगणित किये जाते हैं।

मंच यदि यथार्थ है तो नेपथ्य हमारा स्वप्नलोक है। हम नेपथ्य में सपने बुनते हैं और मंच में हर हालत में उसको प्रस्तुत करना चाहते हैं। यह उल्टा भी हो सकता है। मंच यदि हमारा कल्पना लोक है तो नेपथ्य हमारी असली दुनिया है। ऐसी दुनिया जिसके बिना मंच कारगर ही नहीं हो सकता। वस्तुत: नेपथ्य किसी प्रस्तुति का आधार है या यूं कहें कि वह नींव का पत्थर है। इसी के बलबूते मंच रूपी महल खड़ा होता है। उसे हम इस तरह भी कह सकते हैं कि जैसे हड्डियों के जोड़ों में एक झिल्ली होती है जो उसे आपस में एक नहीं होने देती। एक संचार का माध्यम बन जाता है वही नेपथ्य की भूमिका किसी नाटक की प्रस्तुति में होती है। मेरी समझ में नेपथ्य नाटक और रंगमंच की शरणस्थली है। इसी के द्वारा मंच को सक्रिय और जीवंत रखा जाता है। इसे एक और उदाहरण से समझा जा सकता है। रसोईघर में भोजन बनने की समूची प्रक्रिया जिसमें हर वस्तु की तैयारी होती है। काटछाँट तरह-तरह की आवाजें. कई तरह की चीज़ों का आनुपातिक मिश्रण। उसमें बनाने वाले का श्रम, कार्यकुशलता, निष्ठा और उसकी सौंदर्य दृष्टि भी शामिल होती है। वही भोजन सामग्री जब तरीके से नफासत से परोस दी जाती है तो वह मंच है। वह मंच की असली कार्यवाही है जिसमें प्रदर्शन होता है। बाकी सब मंच से परे है। यह मंच से परे ही नेपथ्य है जिसका अपना विशेष महत्व है और सक्रिय भूमिका है।

नेपथ्य की शक्ति बहुत है। वहाँ रूप सज्जा, केश सज्जा, वेशभूषा, मुखौटे, मंच सामग्री के अलावा दृश्यबंध, वास्तुसज्जा, प्रकाश व्यवस्था, शारीरिक गतियाँ, मुद्रायें और लयात्मकता, स्वर-नाद-ध्वनि उच्चार रूपाकार (प्रस्तर, मृत्रिका, धातु एवं अन्य से निर्मित) रंगभूमि, रंग संयोजन और भी बहुत कुछ हो सकता है, होता है। भूल रहे संवादों को दुरस्त किया जा सकता है। नेपथ्य रंगमंच और नाटक का वह महत्वपूर्ण हिस्सा है जहाँ से पात्र अभिनय के लिये निकलते हैं। वे नये-नये रूपाकारों में सजते हैं। नाटककार और नाट्यनिर्देशक वहीं समूचे प्रयोग करता है। नेपथ्य नाटक और रंगमंच की प्राणधारा है।

नेपथ्य का प्रयोग कोरस के ध्वनि प्रभावों में एक ओर से दूसरी ओर आने जाने जैसी अनेक घटनाओं के लिये जिनसे दृश्यों की प्रवाहमयता बनी रहती है। रंगमंच में तो अंतिम रूप प्रस्तुत होता है जबकि नेपथ्य में कच्चा, अधपका, अधबना खराब और किसी भी तरह की वस्तु संरचनायें तैयार होती हैं, जिनसे हमारा जीवंत रिश्ता होता है। नेपथ्य में रहने के बावजूद कलाकार नाट्य प्रस्तुति में बना रहता है। वह कलाकार के लिये मंच की ऊष्मा पार्श्व से या बगल से प्राप्त करने का अद्भुत स्थान होता है। नेपथ्य में रहकर वह मंचीय गतिविधियों से तादात्म्य बनाये रखता है। नेपथ्य का इस्तेमाल अदृश्य मंच की तरह भी कई प्रस्तुतियों में होता है जिसमें ध्वनियों आदि से नेपथ्य में भी दृश्य खेला जा रहा होता हैं। फ़िल्मों में तो पार्श्व संगीत की अत्यन्त प्रभावी भूमिका होती है।

नाटक के संयोजन में आहार्य माध्यमों की जबरदस्त भूमिका होती है। रूपधारण करना, सजना संवरना रंगमंच की कला की मूलवृत्ति है। अभिनेता अपनी देह में और अपने स्वाभाविक मानसिक वृत्त में चरित्र के अनुरूप रूप धरता है। चरित्र के अनुरूप आंतरिक रूप धारण करना अभिनेता की निजी शक्ति और सीमा है लेकिन बाह्य रूप धारण करना आहार्य माध्यमों के सहयोग से ही संभव होता है। रूपसज्जा वेशभूषा धारण करना रंगशाला और नेपथ्य की चीज़ है, मंच की नहीं। मंच पर तो अन्तिम रूप में केवल प्रदर्शन होता है माना जाता है कि वेशभूषा को चरित्र निरूपण का, अनुषंगी होना चाहिए। उसी तरह रूप सज्जा मंच पर चरित्र को विश्वसनीय बनाने में मददगार होती है। इन्दु घोष के शब्दों में ''रंगमंचीय रूप सज्जा वास्तविक और श्रेष्ठ रूप सज्जा यथार्थवादी और वैज्ञानिक पर्यवेक्षण से ही संभव है।''

नेपथ्य में वे तमाम चीज़ें, सुविधानुसार व्यवस्थित की जाती हैं जिनकी आवश्यकता प्रस्तुतीकरण के दरमियान पड़ती है, जैसे कास्ट्यूम, प्रापर्टीज, सेट इत्यादि। ज़्यादातर लाइट साउण्ड म्यूज़िक आदि की व्यवस्थायें भी नेपथ्य में ही की गई होती हैं। उनका विस्तार से और व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने में अनेक तरह के तरीके और तमाम तरह के व्यवहार काम में लाये जाते हैं। हम बहुत से ऐसे काम मंच पर नहीं करना चाहते क्योंकि उसमें हमें असुविधा होती है। मंच में सुविधा नहीं होती तो हम नेपथ्य में संभावनाओं की तलाश करते हैं। दुष्यंत कुमार के शब्दों में- ''दोस्तों अब मंच पर सुविधा नहीं है/ आजकल नेपथ्य में संभावना है।''

नेपथ्य की शक्ति बहुत है। वहाँ रूप सज्जा, केश सज्जा, वेशभूषा, मुखौटे, मंच सामग्री के अलावा दृश्यबंध, वास्तुसज्जा, प्रकाश व्यवस्था, शारीरिक गतियाँ, मुद्रायें और लयात्मकता स्वर नाद ध्वनि उच्चार रूपाकार (प्रस्तर, मृत्रिका, धातु एवं अन्य से निर्मित) रंगभूमि, रंग संयोजन और भी बहुत कुछ हो सकता है, होता है वहाँ प्रामटिंग भी होती है। भूल रहे संवादों को दुरस्त किया जा सकता है। नेपथ्य रंगमंच और नाटक का वह महत्वपूर्ण हिस्सा है जहाँ से पात्र अभिनय के लिये निकलते हैं। वे नये-नये रूपाकारों में सजते हैं। नाटककार और नाटयनिर्देशक वहीं समूचे प्रयोग करता है। नेपथ्य नाटक और रंगमंच की प्राणधारा है। उसके बगैर नाट्य और रंगमंच की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती। और कहीं कोई प्रस्थानक भी नहीं बनता।

नेपथ्य को और ज़्यादा समझने के लिये महेश वर्मा की कविता 'नेपथ्य' का यह अंश देखें-

और जैसे कि इस छोटी सी पत्ती के नेपथ्य में है
धरती की गर्म तहों का भीतरी जल
और किसी बीज का सपना।
रंगों के नेपथ्य में बैठा है
जली हुई पुतलियों वाला चित्रकार
किसी दोपहर जो देखता रहा था
सूर्य की आँखों में देर तक।
स्मृतियाँ तो ख़ुद ही इस समय का नेपथ्य हैं
उनके नेपथ्य में व्यतीत समय की आहटें हैं और
न पढ़े गये शोक प्रस्तावों की तरह के प्रेमपत्र।
बीमार इच्छायें और पागल कविताएँ हैं
ऋतुओं का नेपथ्य।
क्रूरताओं के नेपथ्य में हैं बड़ी-बड़ी इच्छाएँ
और अंधेरी जगहें मन की।

परदों के नाटक

एक ओर परदों के नाटक एक ओर नंगे
राम करे दर्शक दीर्घा तक आ न जाएँ दंगे

अव्वल मंच बनाया ऊँचा जनता नीची है
उस पर वर्ग-वर्ग में अंतर रेखा खींची है
समुचित नहीं प्रकाश व्यवस्था अजब अँधेरा है
उस पर सूत्रधार को खलनायक ने घेरा है
पात्रों की सज्जा क्या कहिए जैसे भिखमंगे

नामकरण कुछ और खेल का खेल रहे दूजा
प्रतिभा करती गई दिखाई लक्ष्मी की पूजा
असम्बद्ध अकुशल निर्देशन दृश्य सभी फीके
स्वयं कथानक कहता है अब क्या होगा जी के
संवादों के स्वर विकलांगी कामी बेढ़ंगे

मध्यान्तर पर मध्यान्तर हैं कोई गीत नहीं
देश, काल की सीमाओं को पाया जीत नहीं
रंगमंच के आदर्शों की यह कैसी द्विविधा
उद्देश्यों के नाम न हो पाए कोई सुविधा
जनगणमन की जगह अन्त में गाया हरगंगे

-मुकुट बिहारी सरोज

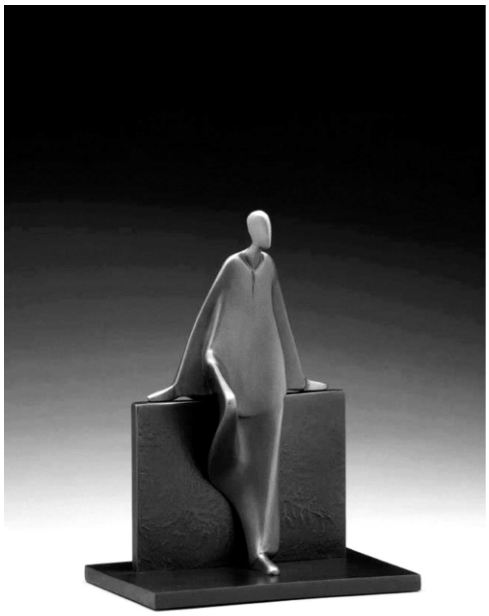

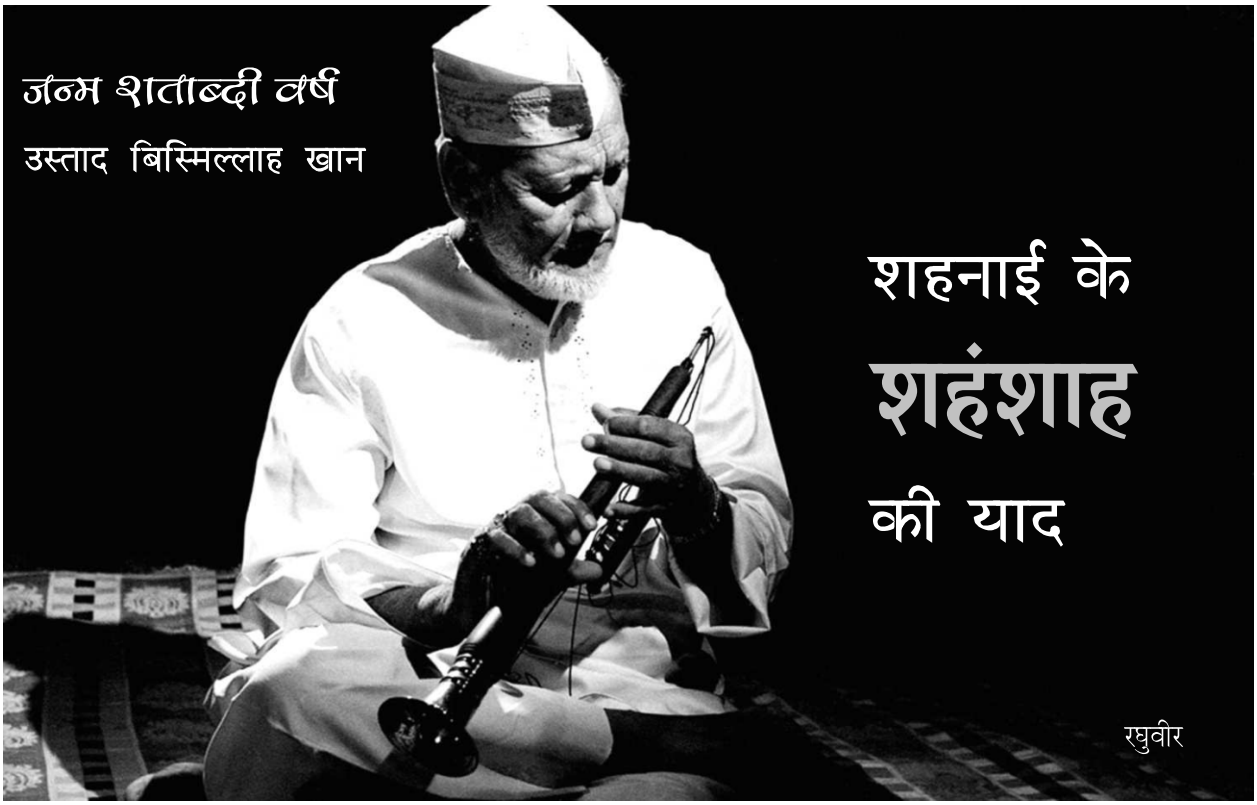

डुमराव रियासत के महाराजा केशव प्रसाद सिंह के दरबारी संगीतकार पैग़म्बर खान के घर में किलकारियाँ गूँजी, तो नवजात का चेहरा देखते ही दादा रसूल बख़्श ने कहा- 'बिस्मिल्लाह!' और फिर यही उनका नाम पड़ गया। उन दिनों रियासतों के साथ किसी भी शुभ या मांगलिक कार्यक्रम की बिस्मिल्लाह (श्रीगणेश) शहनाई वादन से होती थी, लेकिन वे शहनाई के बिस्मिल्लाह बन गये। शहनाई भी अपने भाग्य पर इतराने लगी।

बिस्मिल्लाह खान ने अपनी साँस और फूँक से उसे शुभ मुहूर्तों पर बजने की परम्परा से निकालकर शास्त्रीय संगीत की महफ़िलों में वह सम्मान दिलाया, जिसकी हक़दार वह सदियों से थी। वैसे शहनाई वादन तो इस मुस्लिम परिवार में पाँच पीढ़ियों से चला आ रहा था और यह खानदान राग दरबारी में सिद्धहस्त माना जाता था। शहनाई नवाज़ उस्ताद सालार हुसैन खान को भोजपुर रजवाड़े और नक्कारखाने में शहनाई वादक का सम्मान हासिल था, तो उनके बेटे रसूल बख़्श भोजपुर रियासत के दरबारी संगीतज्ञ थे।

पैग़म्बर खान के बड़े पुत्र का नाम शम्सुद्दीन था। इसलिए बिहार के डुमराव में ठठेरी बाजार स्थित किराये के मकान में 21 मार्च, 1916 को मिठ्ठन बाई के गर्भ से जन्मे छोटे बेटे का नाम उन्होंने कमरुद्दीन रखा, लेकिन कमरुद्दीन को पहचान तो अपने दादा रसूल बख़्श के दिये नाम 'बिस्मिल्लाह' से ही मिलनी थी। मिठ्ठन बाई अपने बच्चे को शहनाई वादक नहीं बनाना चाहती थीं। वे पति से कहतीं, 'क्यों बच्चे को इस हल्के काम में झोंक रहे हो?' लेकिन पैग़म्बर खान अडिग थे कि बच्चे को शहनाई वादक ही बनाना है। ६ साल की उम्र में ही बिस्मिल्लाह को काशी ले जाया गया, जहाँ माँ गंगा के आँचल की छाँव तले उनकी संगीत शिक्षा शुरू हुई और काशी विश्वनाथ मन्दिर से उनका जुड़ाव। काशी विश्वनाथ मन्दिर के अधिकृत शहनाई वादक अली बख़्श 'विलायती' उनके उस्ताद बने और उनका घर बिस्मिल्लाह का गुरुकुल। सर्व विद्या की राजधानी बनारस की हवा में आज भी स्वर-लय-ताल बहती है और तब भी बहती थी। घर के संगीतमय माहौल में नन्हे बिस्मिल्लाह कंचे-गोली खेलते और मुँह से उस्ताद की सिखायी बन्दिश का रियाज़ करते। इसके बावजूद उनके बाजे में आकर्षण और वज़न नहीं आया, तो उस्ताद अली बख़्श ने उनसे कहा कि व्यायाम किये बिना साँस के इस बाजे में असर पैदा नहीं होगा। बिस्मिल्लाह ने उस्ताद की इस सीख की गाँठ बाँध ली और भोर में गंगा मइया के घाट पर जाकर व्यायाम से शरीर को गठीला बनाने लगे। बिस्मिल्लाह खान बताते थे, 'हमारे बस दो ही काम थे- व्यायाम करना और गंगा मइया के किनारे बैठकर रियाज़ करना।' 'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान' और बिस्मिल्लाह खान समूचे देश की आवाज़ बन गये। 14 साल की उम्र में इलाहाबाद की संगीत परिषद में उन्होंने शहनाई वादन की पहली प्रस्तुति दी। 1937 में अखिल भारतीय संगीत समारोह, कोलकाता में बिस्मिल्लाह की शहनाई के छिद्रों से जब भारतीय रागों के स्वर निकले, तो सदियों पुरानी शहनाई में समायी आवाज़ शास्त्रीय हो गयी। फिर तो उनके पुरातन वाद्य की स्वरलहरियाँ देश-विदेश में प्यार और शान्ति के राग छेड़ती चली गयीं। धर्म और जाति जैसे मनोभावों और बन्धनों से ऊपर उठकर बिस्मिल्लाह खान की शहनाई पूरे भारत में देस राग गाने लगी। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर बिस्मिल्लाह वृन्दावनी सारंग के स्वर

सादे पहनावे में रहने वाले बिस्मिल्लाह खान एक साधारण-सरल इन्सान थे, जो बेहद भावुक और रचनात्मक था और जिसने रागों के साथ प्रयोग कर संगीत की गाथा में नये अध्याय जोड़े। बाँसुरी वादक हरिप्रसाद चौरसिया कहते हैं, 'अगर हम किसी सन्त संगीतकार को जानते हैं, तो वो हैं बिस्मिल्लाह खान साहब। बचपन से उनको सुनता और देखता रहा और उनका आशीर्वाद सदा हमारे साथ रहा। वे हमारी आत्मा में इस कदर रच-बस गये कि उनको अलग करना नामुमकिन है।'

कुछ कट्टरपंथियों ने उस्ताद बिस्मिल्लाह खान के शहनाई वादन पर आपत्ति की। तब उन्होंने आँखें बद कीं और उस पर 'अल्लाह हू' बजाते रहे। फिर मौलवियों से पूछा, 'मैं अल्लाह को पुकार रहा हूँ, उसकी खोज कर रहा हूँ। क्या मेरी यह जिज्ञासा हराम है?' इसका किसी के पास कोई जवाब नहीं था। वे अक्सर कहते थे, 'सिर्फ़ संगीत ही है, जो इस देश की विरासत और तहज़ीब को एकाकार करने की ताक़त रखता है।'

छेड़ते, तो होली की मस्ती में राग काफी में 'होली' की धुन बजाते। काशी के बाबा विश्वनाथ मन्दिर में उनकी शहनाई पर राग मालकौंस तो गाहे-बगाहे गूँजता। 1947 में आज़ादी की पूर्व सन्ध्या पर जब लाल किले पर तिरंगा फहरा रहा था, तब उनकी शहनाई भी वहाँ आज़ादी का सन्देश बाँट रही थी। तब से लगभग हर साल 15 अगस्त को प्रधानमंत्री के भाषण के बाद बिस्मिल्लाह खान का शहनाई वादन एक प्रथा बन गयी। 26 जनवरी, 1950 को भारत के पहले गणतंत्र दिवस समारोह में भी उनका राग काफी कार्यक्रम की जान बन इतिहास में शुमार हो गया।

बिस्मिल्लाह खान ने जिस ज़माने में शहनाई की तालीम लेना शुरू की थी, उस समय गाने-बजाने के काम को इज़्ज़त की नज़रों से नहीं देखा जाता था। शहनाई वादकों को इमारतों या समारोह स्थलों के प्रवेश द्वार पर बिठा दिया जाता था और उनको विवाह आदि में जिस घर में बुलाया जाता था, उसके आँगन या ओटले के आगे आने नहीं दिया जाता था। बिस्मिल्लाह खान ने 'कजरी', 'चैती' और 'झूला' जैसी लोक धुनों में लोक वाद्य को तपस्या व रियाज़ से सँवारा और ख़्याल, ठुमरी जैसी जटिल गायन विधाओं, जिन्हें तब तक शहनाई के विस्तार से बाहर माना जाता था, में परिवर्द्धन करके शहनाई को भारतीय शास्त्रीय संगीत का केन्द्रीय स्वर बनाया। अपने जीवन काल में उन्होंने ईरान, इराक़, अफ़गानिस्तान, जापान, अमेरिका, कनाडा, पूर्व सोवियत संघ, पश्चिम अफ्रीका, हांगकांग जैसे मुल्क़ों में शहनाई का तिलिस्म फैलाया। 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय' और 'शान्ति निकेतन' ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधि प्रदान करके सम्मानित किया, लेकिन संगीत, सुर और नमाज़, इन तीन बातों के अलावा बिस्मिल्लाह खान के लिए सारे इनाम-इक़राम, सम्मान बेमानी थे। उस्ताद विलायत खान के सितार और पण्डित वी.जी. जोग के वायलिन के साथ उनकी शहनाई जुगलबन्दी के एल.पी. रिकॉर्ड्स ने बिक्री के सारे रिकॉर्ड तोड़ डाले थे। इन्हीं एलबम्स के बाद जुगलबन्दियों का दौर चला। सरोद सम्राट उस्ताद अमजद अली खान के साथ उनकी आखिरी जुगलबन्दी दिल्ली में अज्ञात शहीदों के नाम रही, जो आज भी एक यादगार है। उस्ताद बिस्मिल्लाह खान ने फ़िल्मों में संगीत देकर घर-घर में दस्तक दी। उन्होंने कन्नड़ फ़िल्म 'सन्नादी अपन्ना' में अपन्ना की भूमिका के लिए शहनाई बजायी, तो हिन्दी फ़िल्म 'गूँज उठी शहनाई' और सत्यजीत रे की फ़िल्म 'जलसाघर' के लिए भी शहनाई पर धुनें छेड़ीं। आखिरी बार उन्होंने हिन्दी फ़िल्म 'स्वदेश' के गीत 'ये जो देश है तेरा' में शहनाई पर मधुर तान बिखेरी।

शहनाई ही बेगम

बिस्मिल्लाह खान के लिए शहनाई उनकी बेग़म थी और संगीत उनका जीवन। पत्नी के इंतकाल के बाद शहनाई उनकी बेग़म और संगी-साथी थी। 'सुर की बारादरी' पुस्तक में लेखक यतीन्द्र मिश्र ने लिखा है, 'खान साहब कहते थे कि उनकी शहनाई बनारस का हिस्सा है। वह ज़िन्दगी भर मंगलागौरी और पक्का महल में रियाज़ करते हुए जवान हुए हैं, तो ज़ाहिर है, बनारस का रस उनकी शहनाई में टपकेगा ही।

सम्मान और पुरस्कार

मध्य प्रदेश सरकार के तानसेन पुरस्कार के अलावा 1956 में संगीत नाटक अकादमी सम्मान, 1961 में पद्मश्री, 1968 में पद्म भूषण, 1969 में एशियाई संगीत सम्मेलन का रोस्टम पुरस्कार, 1980 में पद्म विभूषण और 2001 में सर्वोच्च सम्मान 'भारत रत्न' से नवाज़ा गया।

निर्देशक गौतम घोष ने उनके जीवन पर वृत्तचित्र 'संग-ए-दिल से मुलाकात' बनाया। खान साहब ने अपनी ज़िन्दगी में मात्र तीन शाग़िर्द बनाये- बलजीत सिंह नामधारी, किरनपाल सिंह और गुरबख़्श सिंह नामधारी।

पाँच वक़्त के नमाज़ी उस्ताद बिस्मिल्लाह खान विद्या की देवी सरस्वती के परम उपासक थे। उन पर लिखी किताब 'सुर की बारादरी' में लेखक यतीन्द्र मिश्र ने लिखा है, 'खान साहब कहते थे कि संगीत वह चीज़ है, जिसमें जात-पात कुछ नहीं है। संगीत किसी मज़हब का बुरा नहीं चाहता।' सादे पहनावे में रहने वाले बिस्मिल्लाह खान एक ऐसे साधारण-सरल इन्सान थे, जो बेहद भावुक और रचनात्मक था और जिसने रागों के साथ प्रयोग कर संगीत की गाथा में नये अध्याय जोड़े। स्वर सम्राट पण्डित जसराज बताते हैं, 'मैं 1946 से उनसे मिलता रहा। पहली बार उनका संगीत सुनकर मैं पागल-सा हो गया था। मुझे पता नहीं था कि संगीत इतना अच्छा भी हो सकता है। उनके संगीत में मदमस्त करने की कला थी।' तभी तो काशी में माँ गंगा के तट पर जब वे शहनाई पर मधुर-मद्धिम और प्रवाहमयी स्वरलहरियाँ बिखेरते, तो जल तरंगें भी सुध-बुध खो नाच उठतीं। बाँसुरी वादक हरिप्रसाद चौरसिया कहते हैं, 'अगर हम किसी सन्त संगीतकार को जानते हैं, तो वो हैं बिस्मिल्लाह खान साहब। बचपन से उनको सुनता और देखता रहा और उनका आशीर्वाद सदा हमारे साथ रहा। वे हमारी आत्मा में इस कदर रच-बस गये कि उनको अलग करना नामुमकिन है।' 'भारत रत्न' बिस्मिल्लाह खान ने संगीतज्ञ के रूप में जो कुछ कमाया, वो या तो लोगों की मदद में खर्च हो गया या बड़े परिवार के भरण-पोषण में। एक समय ऐसा भी आया, जब वे आर्थिक रूप से मुश्किल में आ गये और सरकार को उनकी मदद के लिए आगे आना पड़ा। २१ अगस्त, 2006 को प्रिय और अपने शहर बनारस में बीमारी से जूझता यह महान रुहानी कलाकार इस नश्वर संसार से विदा हो गया। फ़ातिमा क़ब्रगाह में उनकी बेगम-शहनाई के साथ नीम की ठण्डी छाँव में उन्हें सुलाया गया।

कहते हैं कि ध्वनियाँ कभी नष्ट नहीं होतीं। बिस्मिल्लाह खान आज अपनी खामोश शहनाई के साथ भले चिरनिद्रा में सो रहे हों, लेकिन उनकी शहनाई की स्वर-तरंगें आज भी संगीत रसिकों के कानों में गूँजती हैं।

यादों में महफूज़

निदा फाज़ली

निदा की शायरी आदमी को इंसान बनाने की शायरी है। उन्होंने देश के विभाजन के समय अपना पूरा परिवार खोया। वह पाकिस्तान चला गया मगर निदा ने देश नहीं छोड़ा। भयानक फाका-मस्ती में दिन गुजारे मगर बगैर झुके अपनी शर्तों पर जिये। वे लोकप्रियता के शिखर पर भले रहे हों मगर उन्होंने ज़मीन से अपने रिश्ते भी खत्म नहीं किये। उनकी हर शाम किसी शहर में वहाँ के दोस्तों के बीच गुजरती थी। वे दोस्तों के सुख-दुख में सहभागी बनते। जमाने के दुख की चर्चा करते मगर अपने किसी निजी दुःख पर कभी कोई बात नहीं करते। वे अपना ग़म अपने साथ ले गये। उनका कहना था-

अपना ग़म लेके कहीं और न जाया जाए
घर में बिखरी हुई चीज़ों को सजाया जाए

निदा फाज़ली नहीं रहे मगर उनकी बात, उनकी आवाज़ रहती दुनिया तक रहेगी। उनकी शायरी हिन्दुस्तान के अवाम की भाषा की शायरी है। उन्होंने भारतीय मनीषा तथा सूफी दर्शन को अपनी शायरी में इस तरह इस्तेमाल किया कि उसका सत्य आम आदमी के जहन में सीधा-सीधा उतर जाता है। उनका हमेशा दावा रहा कि वे हिन्दुस्तानी भाषा में अपनी बात कहते हैं। उनकी वही भाषा है जो अमीर खुसरो से शुरू हुई कबीर तक आयी और अब निदा के यहाँ है। बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद देश और मुम्बई में जो सांप्रदायिक दंगे हुए उस समय सब तरफ बर्बादी और दहशत का माहौल था। तब निदा ने एक गीत लिखा था 'गरज-बरस प्यासी धरती पर फिर पानी दे मौला। चिड़ियों को दाने, बच्चों को गुड़धानी दे मौला'... इस गीत में बर्बादी के बाद जीवन के पुनः प्रारंभ करने की जो प्रार्थना की गयी है। उसमें गुजर गये की गहन पीड़ा भी है और नये जीवन की उम्मीद भी। निदा की इस बात को जब जगजीत सिंह ने अपनी धुन और अपने सुर में गाया तो इस गीत की आत्मा देश के जन-जन तक पहुँच गयी। 31 दिसम्बर की शाम दूरदर्शन के प्रोग्राम में पहली बार जगजीत सिंह ने इसे गाया था और वह राष्ट्रीय दूरदर्शन के सहारे समूचे देश में एक साथ पहुंच गया था। जगजीत सिंह और निदा फाज़ली का साथ सोने में सुहागा जैसा था। निदा जितनी अच्छी शायरी लिखते जगजीत सिंह उतने ही अच्छे ढंग से उसकी धुन बनाकर उसकी आत्मा को उभार देते और वह जन-जन के दिलों तक पहुंच जाती।

आदमी को इन्सान बनाने में कटी उम्र

महेन्द्र गगन

निदा फाज़ली मौजूदा शायरों में संभवतः सबसे अधिक पढ़ने-लिखने वाले शायर थे। आधुनिक हिन्दी कविता के हर छोटे-बड़े कवि को उन्होंने गहराई से पढ़ रखा था तथा अधिकांश से उनके निजी संबंध थे। निदा फाज़ली ने जितनी अच्छी शायरी की उतना ही अच्छा उनका गद्य था। उन्होंने संस्मरण और अपनी डायरी में जो गद्य लिखा है वह भी बहुत ही प्रभावशाली है। वे पंडितों-मुल्लाओं की भाषा का मजाक उड़ाते हुए अक्सर कहा करते थे कि पंडित कहता है मैं अपने निवास के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ। मुल्ला कहता है मैं अपनी कयामगाह रवाना हो रहा हूँ। एक आम आदमी कहेगा मैं घर जा रहा हूँ। उनका कहना था मेरी शायरी भी उसी आम आदमी के लिए है जो हिन्दुस्तानी भाषा बोलता है और मेरी शायरी समझता है। यह आत्मविश्वास उन्हें देश-दुनिया में मिली लोकप्रियता की वजह से आया होगा। जो भी व्यक्ति गीतों-गजलों का शौक रखता है वह निदा फाज़ली को नहीं जानता हो, ऐसा हो नहीं सकता। निदा को फिल्मों और जगजीत सिंह के नजी एलबम से लोकप्रियता मिली और कवि सम्मेलनों-मुशायरों से पैदा। वे महीने में कम से कम बीस दिन मुम्बई से दूर देश के किसी शहर कस्बे में होते या दुनिया के किसी देश में। जिस किसी कवि सम्मेलन या मुशायरे में निदा फाजली होते वह उसकी सफलता की गारंटी होते। उनका नम्बर अन्त के दौर में आता और तब तक लोग उन्हीं के इंतजार में बैठे रहते।

निदा फाज़ली से मेरा संबंध ग्वालियर और रामप्रकाश जी के कारण था। रामप्रकाश जी के साथ उनसे मुलाकात हुई। रामप्रकाश जी तो सूफी हैं। मगर फिर भी पीने वालों की महफिल में अपने पूरे सुरूर से बैठते हैं। निदा के साथ बैठना यानि के शाम से देर रात तक

बैठना और दुनिया जहान की बातों बहसों में शामिल होना होता था। रात की बारह-एक बजे जब भूख का अहसास सताने लगता तब खाना खोजना भी एक काम होता था। इतनी रात गये शहर का कोई होटल तो मिलता नहीं अतः हाईवे के ढाबों पर शरण लेते और वहां जो मिलता खाकर रात दो-तीन बजे घर लौटते थे। जब उनको मध्यप्रदेश सरकार का शिखर सम्मान मिला तब आयोजन समाप्ति के बाद वे भारत भवन में भीड़ से घिरे हुए थे। मैंने उन्हें दूर से ही प्रणाम किया और पूछा क्या प्रोग्राम है? (चूंकि उस शाम वे मध्यप्रदेश शासन के मेहमान थे और उनका रात्रि भोज जहानुमा में था) वे छूटते ही सबके सामने बोले तेरे साथ दारू पीएंगे और क्या? उन्हें घेरे जो भीड़ थी वह मेरी ओर देखने लगी और मैं संकोच में पड़ गया। फिर वे मेरी पुरानी फियेट कार में बैठे। बैठकर बोले यार इसका गेट खुल तो नहीं जायेगा? हमारे साथ किशोर उमरेकर भी था फिर हम एक जगह बैठे। रात के बारह बजे भोजन ढूंढने का सिलसिला शुरू हुआ तो बोर्ड ऑफिस चौराहे पर हकीम होटल खुली मिल गयी। मैंने निदा जी से पूछा यहां खा लोगे बहुत छोटी होटल है। बोले यार पेट भरना है कहीं भी खा लेंगे। हमने वहां पहुंच कर कीमा कलेजी और अंडाकरी खाई। बाहर निकलकर निदा फाजली बोले यार मैंने देश के कई मियाओं की होटलों में खाया है मगर जैसी अंडा करी कीमा कलेजी इसने खिलायी वैसी मैंने कहीं नहीं खाई। यार मजा आ गया।

> जगजीत सिंह के दर्द भरे सुर में निदा के शब्द गूंजते हैं- *जाकर जहाँ से कोई नहीं है, आता वो कौन सी जगह है अल्लाह जानता है, जो भी भला-बुरा है अल्लाह जानता है..*

तो ऐसे थे निदा फाजली जो अपने सम्मान में आयोजित मध्यप्रदेश शासन का डिनर छोड़ हमारे साथ रहे और सड़क-छाप होटल पर खाना खाया। करीब पांच-छह बार निदा के साथ भोपाल में ऐसी ही शामें बीती। मुम्बई भी हम लोग गये तो उनके साथ यही दौर रहा। हर शाम की एक अलग कहानी है पूरी लिखने बैठूंगा तो बहुत लम्बा हो जायेगा। उनसे अंतिम मुलाकात अभी २५ दिसम्बर २०१५ को हुई। अजब संयोग था कि मैं हैदराबाद से हार्ट का आपरेशन करवा कर लौट रहा था। प्लेन हैदराबाद से मुम्बई होता हुआ भोपाल आया। उसी फ्लाइट से निदा बैठे। भोपाल एयरपोर्ट पर मैं व्हीलचेयर पर बैठा था और बाहर निकला। निदा भी उसी वक्त बाहर आये। दुआ-सलाम हुई, मैंने व्हील चेयर से खड़े होने की कोशिश की तो निदा ने कंधों पर हाथ रखकर बैठे रहने को कहा बोले बैठे रह यार क्या हुआ? मैंने बताया हार्ट सर्जरी हुई है तो बोले खूब आराम करना, ध्यान रखना आदि। वे उर्दू अकादमी द्वारा आयोजित मुशायरे में शिरकत करने भोपाल आये थे। यह भी अजब संयोग था कि इस बार उनकी भोपाल यात्रा पर मैं उनसे मिलने नहीं जा पाया सो मुलाकात मुख्तसर ही सही एयरपोर्ट पर हो तो गयी। क्या पता था कि यह अंतिम होगी।

निदा फाज़ली ने अपने दोहों में वो बात पैदा कर दी है जो हिन्दी के बड़े-बड़े कवि पैदा नहीं रक पाये। उनके दोहे लोकोक्ति की तरह समाज में फैल गये हैं। उनका एक दोहा है-

मस्जिद का हो रास्ता या मंदिर का द्वार
बेगम अख्तर की ग़ज़ल सबको बाँटे प्यार।

बाबरी विवाद जब फैजाबाद में हुआ और रामजन्म भूमि को लेकर तमाम बातें की जा रही थीं तब निदा ने बेगम अख्तर के बहाने अपनी बात कही। उनका कहना था कि बेगम अख्तर फैजाबाद की थीं और उनकी गायी गजलें सबमें प्यार बांटती हैं। इसी तरह नरेन्द्र

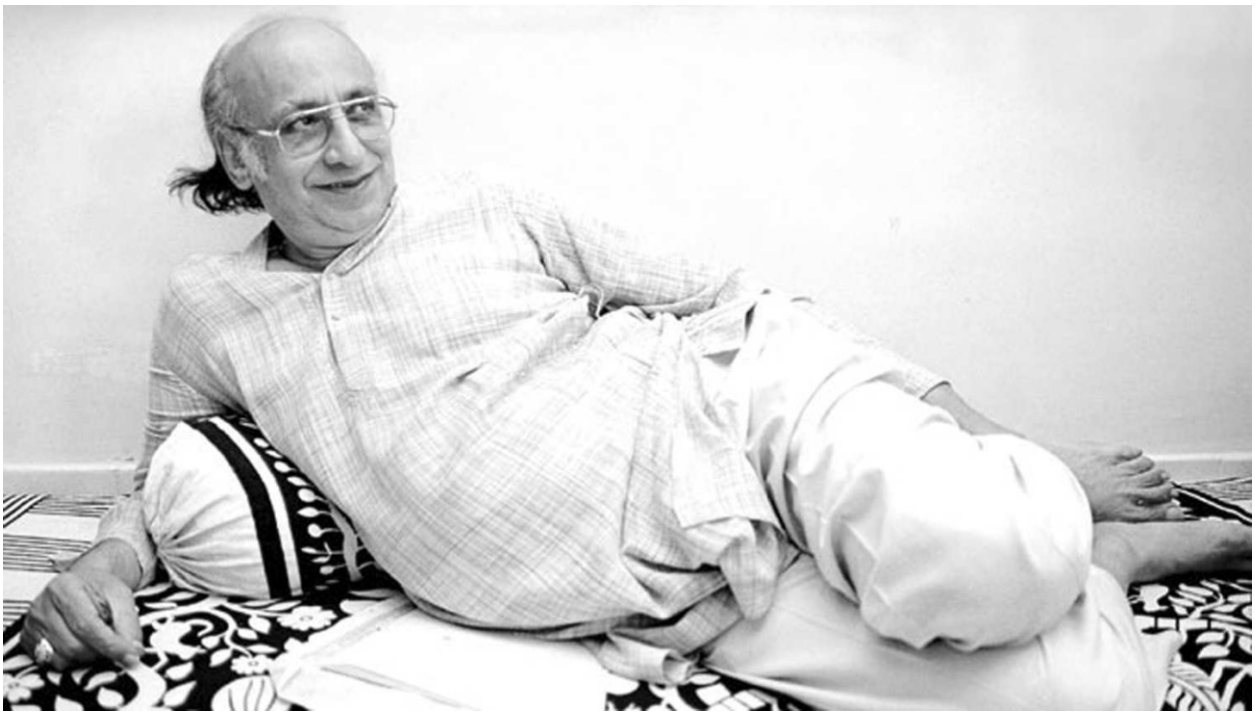

मोदी का वह नारा 'अच्छे दिन आने वाले हैं' पर उपजी निराशा के बाद निदा ने दोहा कहा- *गुमसुम गंगा घाट है, चुप-चुप है गुजरात वादा करके सो गये, सब अच्छे दिन रात।*

स्वच्छता अभियान पर तंज उन्होंने अपने इस दोहे में इस प्रकार किया है- *बाहर झाड़ू हाथ में, अन्दर भरी बबूल उसको भी तो साफ कर, तुझमें जो है धूल।* निदा ने अपना दर्द इस दोहे में प्रकट किया है- *कोई हिन्दू, कोई मुस्लिम, कोई ईसाई है सबने इंसान न बनने की कसम खाई है।*

सचमुच निदा की शायरी आदमी को इंसान बनाने की शायरी है। उन्होंने देश के विभाजन के समय अपना पूरा परिवार खोया। वह पाकिस्तान चला गया मगर निदा ने देश नहीं छोड़ा। भयानक फाका-मस्ती में दिन गुजारे मगर बगैर झुके अपनी शर्तों पर जिये। वे लोकप्रियता के शिखर पर भले रहे हों मगर उन्होंने जमीन से अपने रिश्ते भी खत्म नहीं किये। उनकी हर शाम किसी शहर में वहाँ के दोस्तों के बीच गुजरती थी। वे दोस्तों के सुख-दुख में सहभागी बनते। जमाने के दुख की चर्चा करते मगर अपने किसी निजी दुःख पर कभी कोई बात नहीं करते। वे अपना गम अपने साथ ले गये। उनका कहना था- *अपना गम लेके कहीं और न जाया जाए घर में बिखरी हुई चीज़ों को सजाया जाए।*

जगजीत सिंह के दर्द भरे सुर में निदा के शब्द कुछ इस तरह गूंजते हैं- *जाकर जहां से कोई नहीं है आता, वो कौन सी जगह है अल्लाह जानता है जो भी भला-बुरा है अल्लाह जानता है...*

सईद जाफरी बेशक कद्दावर अभिनेता और रंगकर्मी थे, यह और बात है कि अमिताभ बच्चनों की इण्डस्ट्री में उनके कद को नापा ही नहीं गया। उनका सम्यक् मूल्यांकन किया ही नहीं गया। हिन्दी फिल्मों में हालांकि उनकी अच्छी खासी उपस्थिति थी। शतरंज के खिलाड़ी, राम तेरी गंगा मैली, दिल, आंधियाँ, मासूम, रामलखन, चालबाज, किशन कन्हैया, घर हो तो ऐसा, अजूबा, इन्द्रजीत, हिना, जब प्यार किसी से होता है, अलबेला चश्मे बद्दूर, आदि फिल्में उन्होंने कीं।

माहेर कोटला के पंजाबी मुसलिम परिवार में जन्मे सईद जाफरी ने जाहिर है चुनिन्दा फिल्में और बामकसद निर्देशकों की फिल्में ही कीं। वे प्रशिक्षित अभिनेता थे इसलिए किरदार के चयन के मामले में आग्रही थे, तभी उसमें प्राण भरते थे और उसे यादगार बनाते थे। एडिनबरो के गांधी में सरदार पटेल की उनकी भूमिका अविस्मरणीय थी। सत्यजीत राय के शतरंज के खिलाड़ी के लिए उन्हें फिल्मफेयर का बेस्ट सपोर्टिंग एक्टर अवार्ड भी मिला। इस फिल्म में मीर रोशन अली के किरदार को स्मरणीय बनाया। दिलचस्प है कि उनकी प्रतिभा को रिचर्ड एडिनबरो, सत्यजीत राय, जेम्स आइबोरी ने पहचाना लेकिन हिन्दी मसाला फिल्मों के निर्माताओं को वे मसालेदार नहीं लगे। वजह साफ है कि ये फिल्में लुम्पेन वर्ग की लोलुप-रुचियों के मद्देनजर बनाई जाती हैं, उनमें आदर्श झोंकना तो भावाकुल दर्शक के नजरिये से लाभकारी लगता है, मगर सार्थकता से उनका खास वास्ता नहीं होता।

मकबूल अदाकार

रामप्रकाश

सईद जाफरी की याद

दरअसल सईद जाफरी की ब्रिटिश-भारतीय रंगकर्मी और अभिनेता की पहचान थी। उनका भाषाओं पर अधिकार था। पंजाबी उनकी मातृभाषा थी। उर्दू पर पंजाबी की तरह ही अधिकार था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान उनका हिन्दी और पूरबी बोलियों पर भी अधिकार हो गया- मसलन पुरबिया, अवधी और भोजपुरी। प्रतिभाशाली होने के बावजूद उनका मन थियेटर में रमता था। इसके चलते उन्होंने दिल्ली में यूनिटी थियेटर की स्थापना भी की और शेक्सपियर, टेनिसी विलियम्स और क्रिस्टोफर फ्राय के अंग्रेजी में नाटक भी किये।

सईद जाफरी की नाट्यानुरक्ति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उन्होंने रॉयल एकेडमी ऑफ ड्रेमेटिक आर्ट लंदन से प्रशिक्षित होने के बाद द कैथलिक यूनिवर्सिटी ऑफ अमेरिका से नाटक में पोस्ट ग्रेजुएशन भी किया। इस तरह शेक्सपीरियन इंग्लिश के अलावा अमेरिकन इंग्लिश और लबो-लहजे पर भी अधिकार किया। उन्होंने अमेरिकी मुहावरे में ही अमेरिका में शेक्सपियर के नाटकों को प्रस्तुत भी किया और प्रशंसा बटोरी। फिल्मों की ओर मुड़े तो पीयर्स ब्रानग्रन, सीन कानेरी और माइकल केन जैसे कलाकारों के समानान्तर भूमिकाएं निभा कर अपनी धाक जमाई।

प्रतिभाशाली होने के बावज़ूद सईद जाफरी का मन थियेटर में रमता था। इसके चलते उन्होंने दिल्ली में यूनिटी थियेटर की स्थापना भी की और शेक्सपियर, टेनिसी विलियम्स और क्रिस्टोफर फ्राय के अंग्रेजी में नाटक भी किये।

इसलिए यह आकस्मिक नहीं है कि वे एशिया महाद्वीप के ऐसे पहले अभिनेता थे जिनको ब्रिटिश और केनेडा के फिल्म एकेडमी अवार्ड के लिए नामित होने का सौभाग्य मिला। साथ ही ऑर्डर ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर हासिल करने वाले पहले भारतीय सिनेकर्मी बने। बलराज साहनी की तरह उन्होंने भी रेडियो पर काम किया और अपनी भाषा और उच्चारण का परिष्कार किया। वे आकाशवाणी में निदेशक पब्लिसिटी और विज्ञापन भी रहे। भारतीय टूरिस्ट ऑफीसर के बतौर न्यूयार्क-वाशिंगटन में भी उन्होंने कुछ समय तक अपनी सेवाएं दीं।

विश्वव्यापी कीर्ति के धनी इस अभिनेता की द मैन हू वुड वी किंग, गांधी, ए पैसेज टू इंडिया, द फॉर पेवेलियन्स, माय ब्यूटीफुल लट्रिड जैसी अंग्रेजी फिल्मों में यादगार भूमिकाएं निभाईं। अंग्रेजी टेलीविजन सीरियल में उनके तंदूरी नाइट्स, लिटिल नेपोलियन्स, द ज्वेल इन द क्राउन और कोरनेशन ऑफ द स्ट्रीट आदि ने ख्याति पाई।

सईद शानदार इंसान, शानदार अभिनेता, कला क्षेत्र के विश्व नागरिक और विश्वमैत्री के हामी व्यक्ति थे। वे साफगो, विनम्र और पारदर्शी व्यक्तित्व के धनी थे। इसलिए वे विवादों से दूर रहे। मगर अप संस्कृति से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। वे सिने इतिहास में अमर रहेंगे, इसमें संदेह नहीं।

बेंच पर गुजारनी पड़ी थी रात

सईद के माता-पिता चाहते थे कि वे सिविल सर्विस ज्वाइन करें। इसके लिए उन्होंने अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया। 1951 में वे कार्टूनिस्ट या ब्रॉडकास्टर बनने का सपना संजोए दिल्ली आ गए। यहां ऑल इंडिया रेडियो में 250 रुपये प्रतिमाह वेतन पर इंग्लिश अनाउंसर की नौकरी की। नौकरी के शुरुआती दिनों में रहने की जगह व किसी से पहचान नहीं होने के कारण रात को उन्हें ऑफिस बिल्डिंग के पीछे रखी बेंच पर सोना पड़ा था।

थिएटर ने खोली नई राहें

सईद जब अलीगढ़ में पढ़ाई कर रहे थे तभी से वे मिमिक्री करते थे। वे तब से मशहूर अभिनेता मोतीलाल, नाडिया, कनन बाला व पृथ्वीराज कपूर की फिल्म में देखते आ रहे थे। अभिनय की तरफ रुझान होने के कारण उन्होंने स्कूल से लेकर कॉलेज तक कई नाटकों में अभिनय किया। 1951 में फ्रैंक ठाकुरदास और बेंजी बेनेगल के साथ मिलकर यूनिटी थिएटर कंपनी की स्थापना कीऔर देश-विदेश में नाटकों का मंचन करने लगे। यहीं उनकी मुलाकात मधुर से हुई जिनसे उन्होंने 1957 में शादी कर ली। सईद ने ब्रिटेन, अमरीका व भारत में कई थिएटर शो किए।

शेक्सपीयर के नाटकों को अमरीका पहुँचाया

सईद जाफरी पहले एशियाई व्यक्ति थे जिन्होंने शेक्सपीयर के नाटकों का मंचन अमरीका में किया। उन्होंने 150 से अधिक ब्रिटिश, अमरीकी व भारतीय फिल्मों में अभिनय किया। अमरीका में 1958 से 1960 तक भारत सरकार के पर्यटन विभाग में पब्लिसिटी व एडवरटाइजिंग डायरेक्टर रहे। 1995 में ड्रामा के क्षेत्र में बेहतरीन कार्य के लिए ऑनरी कमांडर ऑफ द ब्रिटिश एंपायर के सम्मान से नवाजा गया।

सम्मान

मोहन महर्षि

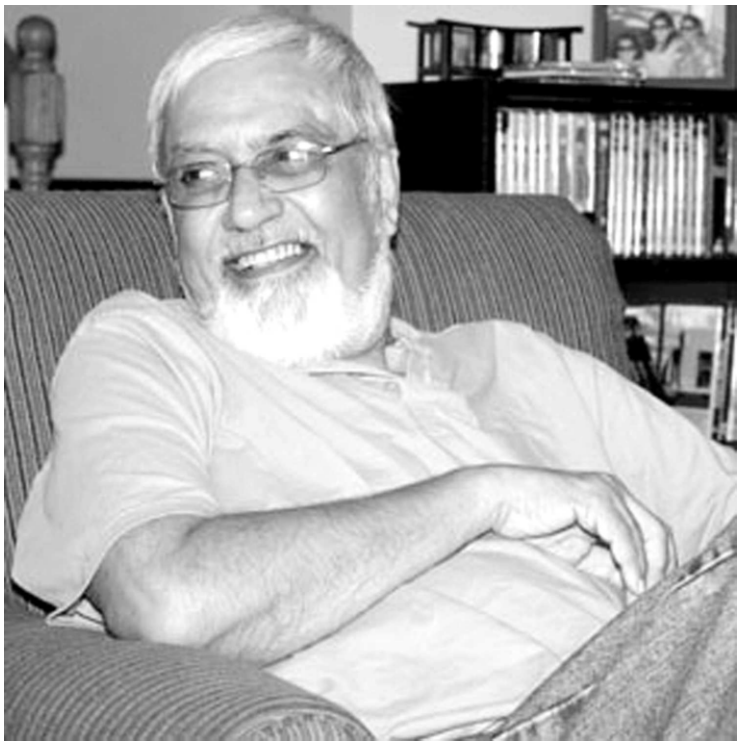

अनथक रंगयात्री

सुनील मिश्र

मोहन महर्षि एक समर्थ रंगदृष्टि और समयसापेक्ष स्थितियों पर जागरुक निगाह रखने वाले रंगकर्मी के रूप में जाने-पहचाने जाते हैं। उनकी यह पहचान समय के साथ निरन्तर समृद्ध होती गयी है। उनके नाटक के पुनर्पाठ, अनुवाद और निर्देशकीय प्रयोग सभी में समय की सार्थकता, नवाचार और अन्त:स्पन्दित कर देने वाली स्फूर्त ऊर्जा को महसूस किया जा सकता है। आधी सदी बराबर रंगसक्रियता में मोहन महर्षि ने अनेक प्रतिमान स्थापित किए हैं।

कुछ संयोग होते हैं ज़िन्दगी में। विख्यात रंगकर्मी मोहन महर्षि को जब नाटकों के क्षेत्र में जीवनपर्यन्त सृजन और उत्कृष्ट अवदान के प्रतिमानों के लिए रंगमंच के कालिदास सम्मान की घोषणा हुई तो यकायक बीसेक वर्ष पुरानी स्मृतियाँ ताज़ा हो गयीं। वे विश्व कविता समारोह में दिल्ली दूरदर्शन के लिए कार्यक्रम बनाने भोपाल आये थे। उस वक़्त उनसे एक बातचीत हुई थी। रंगमंच की स्वतंत्रता को लेकर उन्होंने बड़े सारगर्भित और अनुभवपरक कुछ विचार रखे थे, उन्हीं को ताज़ा करते हुए उनसे उज्जैन में मिला, एक-दो दिन का साथ रहा और इस बीच के वर्षों में उनकी यात्रा को लेकर उनसे भी जाना, पढ़ा भी।

कुछ दिन पहले ही उन्होंने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के कलाकारों के साथ कालिदास और उनकी पत्नी विद्योत्तमा को लेकर एक नाटक सृजित किया है। इस नाटक की बड़ी चर्चा है। उज्जैन में उन्होंने अपने इस नये नाटक के बारे में बताया भी था तब इसको लेकर जिज्ञासा बढ़ी थी। योग ही रहा कि लगभग आठ-दस दिन बाद ही इसे भोपाल में देखने का अवसर आया। विद्योत्तमा एक कालजयी चरित्र है। वह राजा विक्रमादित्य की बेटी हैं। असाधारण विदुषी और कला मर्मज्ञ। वे कालिदास को उनके अनेक असमंजसों में संशोधित किया करती हैं। कालिदास से उनके तर्क दिलचस्प होते हैं जो कई बार द्वन्द्व की तीव्रता में मतभेद तक जाते हैं लेकिन विद्योत्तमा बड़ी सूझ के साथ उन्हें अपने सोच से समरस करती हैं। दोनों में बहुत प्रेम है। विद्योत्तमा ने अनेक वैभवपुरुषों को अस्वीकृत करते हुए कालिदास का वरण, उनके प्रेम और विद्वत्ता के वशीभूत किया था। यह सारा का सारा दृष्टान्त मंच पर अत्यन्त प्रभाव और समृद्ध कलात्मक दृश्य-दृष्टि के साथ घटित होता है। ज्ञानियों के विवेक और बुद्धि को लेकर विद्योत्तमा का सोच कमाल का है। मोहन महर्षि शास्त्रीय प्रयोगों और परिकल्पनाओं के साथ जिस तरह इस प्रस्तुति को गढ़ते हैं वह अनूठा है। यह नाटक अपनी प्रखरता, पात्रों का चरित्रों में गहरे एकाकार होकर अभिव्यक्त होना प्रभावित करता है। यतीन्द्र बहुगुणा, अन्नपूर्णा सोनी, दीप कुमार, राजू राय जैसे कलाकार इस नाटक की प्रभावप्रतिमा की धुरि हैं। काल अनुरूप वस्त्र विन्यास विख्यात रंगकर्मी और मोहन जी की धर्मपत्नी अंजला महर्षि का है। संगीत परिकल्पना एवं प्रयोग काजल घोष का जो नाटक देखते हुए उस समय के प्रभाव से सांगीतिक रूप से भी जोड़ता है। इस नाटक का अन्तिम दृश्य दर्शकों को एक झटके में उस कल्पनालोक से बाहर लाता है जहाँ सब कुछ शास्त्रीय और सृजनसंसार के बौद्धिक आवेगों के दायरों में है। विद्योत्तमा को आज के सन्दर्भ और कठिन समय में देखते हुए मोहन महर्षि ख़तरे और ज़ोखिम से भरे जिस यथार्थ के साथ प्रस्तुत करते हैं, अन्तिम दृश्य में जैसे वह आने वाले समय की एक बड़ी चेतावनी सा है।

30 जनवरी 1940 में अजमेर राजस्थान में जन्मे मोहन महर्षि की पहचान रंगमंच के क्षेत्र में एक निर्देशक के साथ-साथ लेखक, आकल्पक, अभिनेता एवं निर्माण नियंता के रूप में सर्वव्यापी है। उन्होंने राजस्थान विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। श्री मोहन महर्षि को युवावस्था से ही नाटकों में रुचि थी जिसके चलते उन्होंने 1964 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में प्रवेश लिया और शीर्षस्थ रंगकर्मी श्री इब्राहिम अल्काज़ी के मार्गदर्शन में रंगमंच के विविध आयामों में प्रशिक्षण प्राप्त किया। मोहन महर्षि ने पहले दिशान्तर और उसके कुछ समय बाद संकेत नाम की संस्थाएँ स्थापित कीं और अपना प्रशिक्षण पूरा करने के पश्चात पूर्णकालिक रंगकर्म में सक्रिए

हुए। वे इन संस्थाओं के माध्यम से जयपुर और दिल्ली दोनों जगहों पर अपनी उपस्थिति बनाये रखने में सफल हुए। एक ओर जहाँ उन्होंने जयपुर में राजस्थान विश्वविद्यालय के छात्रों के साथ काम जारी रखा वहीं दिल्ली में कलाकारों की युवा पीढ़ी के साथ निरन्तर काम किया। उस समय के उनके नाटकों बादल सरकार का एवम इन्द्रजित, ज्ञानदेव अग्निहोत्री का शुतुरमुर्ग और आद्य रंगाचार्य का सुनो जनमेजय की बड़ी चर्चा रही। उसी दौर में श्री मोहन महर्षि ने बर्टोल्ट ब्रेख्त, जॉर्ज बर्नाड़ शॉ, हेनरिक इब्सन इत्यादि के कृतित्व पर अपने गृहनगर जयपुर में लगातार रंगप्रयोग किए। १९७० में मोहन महर्षि दूरदर्शन केन्द्र नई दिल्ली से जुड़े और प्रोड्यूसर बने जिसमें उनकी सक्रियता साहित्यिक एवं समसामयिक विषयों के विश्लेषक के रूप में लगभग तीन साल रही जिसमें उन्होंने राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक महत्वपूर्ण आयामों पर काम करते हुए अपनी श्रेष्ठ रचनात्मक भूमिका प्रमाणित की। तीन वर्ष बाद उन्होंने दूरदर्शन की सेवा से त्यागपत्र दे दिया और उसी बीच वे मॉरीशस के प्रधानमंत्री के सांस्कृतिक सलाहकार नियुक्त हुए। उनकी यह सक्रियता इन मायनों में अत्यन्त उल्लेखनीय रही कि उन्होंने भारत और मॉरीशस के सांस्कृतिक सम्बन्धों को लेकर महत्वपूर्ण काम किया और भारतीय भाषाओं हिन्दी, उर्दू, तमिल, तेलुगु और मराठी नाटकों के समारोहपूर्वक प्रदर्शन की जगह बनायी।

मोहन महर्षि ने एक सांस्कृतिक दूत के रूप में देश-दुनिया का भ्रमण करते हुए पीटर ब्रुक, हेनरी मूलर, सत्यजित राय जैसे विश्व ख्याति की विभूतियों से सृजनात्मक संवाद स्थापित किया और उसे दर्शकों तथा श्रोताओं के बीच प्रस्तुत करने का काम किया। इन सब कार्यों के साथ ही रंगमंच में उनकी निरन्तर उत्थानपरक यात्रा जारी रही जिसका प्रमाण राजा की रसोई, डियर बापू, नाटक के बीच, विद्योत्तमा जैसे श्रेष्ठ और चर्चित नाटक थे जो समकालीन कलाप्रेक्षकों और रंगप्रेमियों में चर्चा का केन्द्र बने।

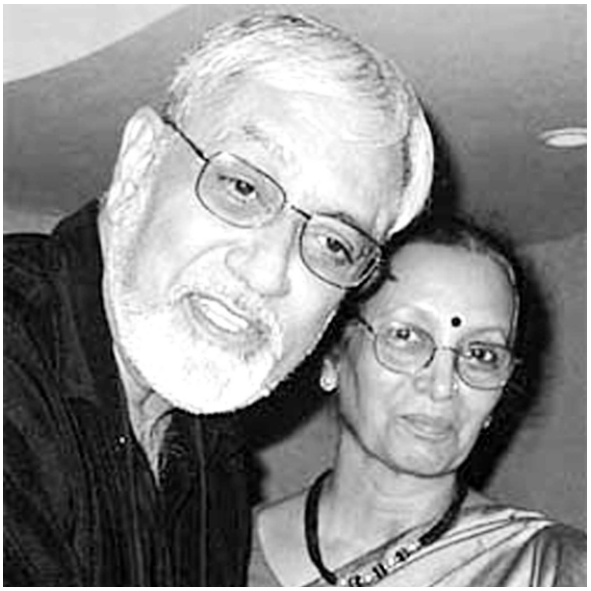

मोहन महर्षि ने एक सांस्कृतिक दूत के रूप में देश-दुनिया का भ्रमण करते हुए पीटर ब्रुक, हेनरी मूलर, सत्यजित राय जैसे विश्व ख्याति की विभूतियों से सृजनात्मक संवाद स्थापित किया और उसे दर्शकों तथा श्रोताओं के बीच प्रस्तुत करने का काम किया इन सब कार्यों के साथ ही रंगमंच में उनकी निरन्तर उत्थानपरक यात्रा जारी रही जिसका प्रमाण राजा की रसोई, डियर बापू, नाटक के बीच, विद्योत्तमा जैसे श्रेष्ठ और चर्चित नाटक थे जो समकालीन कलाप्रेक्षकों और रंगप्रेमियों में चर्चा का केन्द्र बने। मॉरीशस में रहते हुए मोहन महर्षि ने धर्मवीर भारती की कालजयी रचना अंधा युग की मंच प्रस्तुति वहाँ के कलाकारों के साथ तैयार की जिसका मंचन नागपुर में आयोजित विश्व हिन्दी सम्मेलन के मंच पर 1975 में हुआ। यह बड़ा विस्मयकारी था कि विदेशी कलाकारों ने इस बड़े समारोह में हिन्दी का नाटक किया। जब दूसरा विश्व हिन्दी सम्मेलन 1976 में मॉरीशस में हुआ तब उन्होंने मोहन राकेश के नाटक आषाढ़ का एक दिन तथा बादल सरकार के नाटक एवम इन्द्रजित का मंचन विश्व के हिन्दी विद्वानों के बीच किया। इन प्रदर्शनों से उनके सर्जनात्मक उपक्रम को बेहद सराहा गया। 1979 में मोहन महर्षि जब भारत लौटे तो अगले साल ही पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में वरिष्ठ प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। देश लौटकर उन्होंने अपनी रंग सक्रियता जारी रखी। चार वर्ष बाद वे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक के रूप में दिल्ली आये और बाद में यहीं संस्थान के उपाध्यक्ष के रूप में कार्य करते हुए कार्यकारी अध्यक्ष भी बने। 2002 में वे सेवानिवृत्त हुए और उसके बाद से अत्यधिक स्वतंत्रतापूर्वक वे नाटकों के प्रति समर्पित हो गये। तब से अब तक की निरन्तरता में अपने आरम्भ के अनेक नाटकों के पुनर्प्रदर्शन, पुनर्परिष्कार के साथ-साथ समय-समय पर नये नाटकों की रचना करते हुए मोहन महर्षि ने लगातार अपने जीवन में श्रेष्ठ सृजन की अपरिहार्यता को अपना लक्ष्य बनाया। उनके महत्वपूर्ण नाटकों में आइंस्टीन, जोसेफ का मुक़दमा, राजा की रसोई, दीवार में एक खिड़की रहती थी, ओथेलो, विद्योत्तमा, मैं इस्तान्बुल हूँ आदि भी शामिल हैं।

मोहन महर्षि एक समर्थ रंगदृष्टि और समयसापेक्ष स्थितियों पर जागरुक निगाह रखने वाले रंगकर्मी के रूप में सदैव जाने-पहचाने जाते हैं। उनकी यह पहचान समय के साथ निरन्तर समृद्ध होती गयी है। उनके नाटक के पुनर्पाठ, अनुवाद और निर्देशकीय प्रयोग सभी में समय की सार्थकता, नवाचार और अन्त:स्पन्दित कर देने वाली स्फूर्त ऊर्जा को महसूस किया जा सकता है। आधी सदी बराबर रंगसक्रियता में श्री मोहन महर्षि ने अनेक प्रतिमान स्थापित किए हैं। उन्हें राजस्थान संगीत नाटक अकादमी अवार्ड, नांदीकार कोलकाता का सम्मान, केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी अवार्ड तथा पंजाब विश्वविद्यालय में विशिष्ट सम्मान से सम्मानित किया गया है। कालिदास सम्मान से विभूषित होने के बाद वे महसूस करते हैं कि यह लगभग एक समय के संयोग हैं, हालिया नाटक का विषय और पृष्ठभूमि कालिदास होना, हालाँकि वे विगत एक वर्ष से अपने इस नये रंगप्रयोग को लेकर सृजनात्मक रूप से कालिदास के व्यक्तित्व और सर्जना का पुनर्पाठ कर रहे थे। नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली विद्योत्तमा के प्रदर्शन देश भर में कर रहा है, उसको प्रस्ताव भी हैं। मोहन महर्षि इस पूरे परिप्रेक्ष्य और उपलब्धियों में एक दृष्टिसम्मत रंगयात्री के रूप में हमारे ध्यान और संज्ञान का केन्द्र बनते हैं। यह यात्रा निरन्तर, अनवरत जारी है।

संस्मरण

विजय बहादुर सिंह

अपनी धुन के निराले
सुरीले पाठकजी

संगीत के शहर ग्वालियर में पैदा होकर जवानी के दिनों तक वे समूचा उत्तर भारत तो नहीं लेकिन पूर्वोत्तर भारत के महानगर कोलकाता और पश्चिम के बॉलीवुड मुंबई की धरती पर अपने दिग्विजयी प्रभावों की छाप छोड़ कर वानप्रस्थी उम्र में इतिहास पतित शहर विदिशा में कुछ इस अदा में रह रहे थे कि जैसे कुछ हों ही नहीं। उनके इस रहन को कुछ-कुछ शायद ग़ालिब का यह शेर बयाँ कर सके-

'रहिए अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो,
हम सुखुन कोई न हो और हमज़ुबाँ कोई न हो।'

यह बात मुझे तब और समझ में आई जब एक दिन मैं शाम चार बजे विदिशा के अपने दो कला-रसिक मित्रों के साथ उनसे मिलने पहुँचा। उन्हीं दोनों की इच्छा और राय थी कि पं. गंगाप्रसाद ने पिछले शेष पच्चीस बरसों से गाया नहीं है। विदिशा वालों ने उनका पहला और अन्तिम गायन जो सुना रक्खा है वह तभी हुआ जब माधवराव सिंधिया के पैदा होने पर बतौर जश्न युवराज क्लब विदिशा में एक यादगार संगीत सभा आयोजित की गई थी। मज़ा यह कि, पाठक जी बतौर कलाकार (गायक) उसमें बुलाए नहीं गए थे। अपने समय के तमाम जाने-माने गायक और वादक उसमें मौजूद थे, यहाँ तक कि मलका-ए-गजल बेगम अख़्तर यानी अख्तरी बाई फ़ैज़ाबादी भी थीं। पर न जाने किन वजहों से वह सभा उस दिन बेरौनक सी होने लगी और उनकी साँसें सी उखड़ने लगीं। तभी किसी ने आयोजकों और प्रशासन के लोगों को समझाया और सलाह दी कि पाठक जी को अगर सादर कहा और आमंत्रित किया जाय तो समारोह फिर से जम सकता है। यही तब किया भी गया, और पाठक जी तो अपने गायन से जमे ही, वह उखड़ सी चुकी सभा भी फिर से रौनक पा गई। अब तो बताने वाले भी नहीं बचे कि उसमें कौन-कौन से नामी गायक और वादक थे। शायद मशहूर तबला नवाज़ अहमदजान थिरकवा तो थे ही।

जिन लोगों-गुलाबचन्द जी बड़जात्या और सुखदेव जी लड्ढा के साथ मैं उनसे मिलने और इस बहाने यह अनुरोध करने गया था कि एक बार वे फिर गा दें। मेरे इन साथियों की हिम्मत नहीं थी कि वे स्वयं अपने मुँह से यह बात कहें और जवाब में पाठक जी की ओर से कुछ उलटा-पुलटा न सुनने को मिल जाय। इसी निमित्त वे दोनों मुझ हिन्दी प्रोफेसर को लेकर गए थे कि मैं भी थोड़ा बहुत लिखता पढ़ता हूँ और पाठक जी शायद मुझे कुछ वज़न दें। हम तीनों धोती-कुरते में ही थे। गुलाबचन्द जी तो अपनी गाँधी टोपी शायद सोते में भी उतारना पसंद न करते हों।

लोहा बाज़ार का वह मुहल्ला। छोटे-छोटे दुकानदारों से आबाद। कड़ाही, चिमटा, बैलों को बाँधने वाली साँकलें, फावड़ा, गैती, कीलें और घर-गृहस्थी की ज़रूरतों की तमाम चीज़ें। तराज़ू, सेर, अद्धा और कई तरह के चाकू और कटारियाँ। विदिशा को पाठक जी की ही तरह अपना स्थायी निवास बना चुके कवि नरेन्द्र जैन ने इन दुकानों का जिक्र अपनी एक कविता में कुछ बदली हुई सच्चाईयों के साथ किया; पर दूसरे एक और कवि शलभ श्रीराम सिंह, जिन्हें

पाठक जी बहुत प्यार किया करते और आशीर्वाद दिया करते थे, ने सिर्फ पाठक जी को विदिशा के अविस्मरणीय इतिहास का हिस्सा बनाने के लिए ही ये पंक्तियाँ लिखीं-

मज़हबो जंगी अमन का अजीब संगम यह
न सिर्फ़ शहर है, फ़न की पनाहगाह भी है।
ये ज़मीं जिसने कि औरंगज़ेब तक को सहा
सुरों की, ताल की, लय की गुज़ारगाह भी है।

शलभ ये पंक्तियाँ शायद ही लिखते, अगर उनके अनुभवों में पाठक जी की गहरी, रोमांचक और जीती-जागती उपस्थिति न होती। निस्सन्देह शलभ मेरे विख्यात और कुख्यात दोस्त थे और मेरे चलते ही अपना प्रिय शहर कोलकाता छोड़ विदिशा रहने चले आए थे। सो भी अलग नहीं, मेरे ही साथ, मेरी रोटियों में अपने हिस्से का अधिकार जताते हुए। इस कृतज्ञता का इज़हार भी उन्होंने अपनी इसी नज़्म में किया-

ये शहर जिसमें मिली है अभी पनाह मुझे,
ये शहर जिसमें मेरा दोस्त विजय रहता है।
ये शहर जो कि है तारीख़ का सफ़्फ़ाक सफ़ह
जो अपनी दास्तान ख़ुद जहाँ से कहता है।

लोहा बाज़ार की लोहे वाली मुल्लाओं की दुकान के बगल मोदी की बड़ी सी एप्कोलाइट की दुकान, फिर गंजी-मोजों की होजरी की, आगे फिर एक चुनिंदा सेव गाँठियाँ की नमकीन की दुकान के बगल ऊपर जाने वाली सीढ़ियाँ ठीक सड़क से लगी हुई और बगल में एक अच्छी खासी बर्तनों की दुकान। एक ख़ामोश किन्तु जीता-जागता मुहल्ला जिसमें लोहे की दुकानों के ठीक बगल में विदिशा के सबसे बड़े वैद्य पं. बलराम शास्त्री का दवाखाना, जो दिन के दो-ढाई बजे तक खुला रहने के बाद देर रात लगभग साढ़े नौ-दस बजे खुलता और रात बारह-एक तक खुला ही रहता, जैसे कि आजकल आपातकालीन सेवाएँ खुली रहती हैं। पाठक जी अपनी तीन बड़ी छोटी बेटियों, दो किशोर बेटों और एक वफादार पत्नी के साथ रह रहे थे। यह तो मुझे बड़जात्या जी ने ही बता दिया था कि सप्ताह में दो दिन वे भोपाल के बिड़ला मंदिर में भजन के लिए जाते हैं और बतौर महवारी उन्हें बिड़ला मंदिर की ओर से तीन सौ रुपए दिए जाते हैं। आने-जाने के लिए रेलवे का सीज़न-टिकट भी। शेष पाँच दिन उनके चुपचाप विदिशा में ही गुज़रते हैं। आठ दस ज़ीने चढ़कर हम लोग ऊपर पहुँचे तो ठीक सामने वाला दरवाज़ा तो बंद सा था, पर बाईं ओर पड़ने वाला दरवाज़ा उठँगा हुआ सा था, जिस पर हल्की थाप देते ही खोल दिया गया। पाठक जी को हमारे आने की पहले से इत्तला थी, वे तैयार थे। बहुत शिष्टता के साथ हमें बिठाया गया। मुझे तो ख़ास तौर से शीशम की हाथ वाली उस कुर्सी पर, जो पुराने कारीगरों की हाथ की सफाई और बारीकी के उदाहरण लिए हुए थी। पाठकजी तो अपनी उसी चटाई वाली आसनी पर पालथी मारे बैठे रोज़ का रियाज़ किया करते थे। वे दोनों खादी की दो-छोटी छोटी चौकोर आसनियों पर पुराने पटियों सी बनी दालाननुमा कमरे की फर्श और उसी में एक तरफ़ वह आराम फ़रमाने वाली बड़ी सी कुर्सी, अपने उसी पुराने ठाट में।

उन दोनों ने मेरा परिचय कराया तो पाठक जी के चेहरे पर किंचित आत्मीयता और उल्लास के भाव उदित हुए। उनकी आँखों में जैसे कुछेक पुरानी स्मृतियों के चिराग से जल उठे और सहसा यह वाक्य होठों से फूटा- 'अच्छा तो आप अवध के फ़ैज़ाबाद के ठाकुर साहब हो!' मैंने विनम्रता में अपनी सहमति प्रकट की- 'जी।' फिर वे दोनों मौका पाकर हकलाते हुए से बोले- डॉक्टर साहब की बड़ी इच्छा थी आपसे मिलने की।' पाठक जी ने फिर मेरे चेहरे की तरफ देखा तो मैंने बगैर कोई मौका गँवाए कहा- 'आप जैसे बड़े गायक इसी शहर में हों और मुझे मालूम न हो तो यह सिवाय अपराध के और क्या कहा जाएगा।' पाठक जी पर मेरे इस वाक्य का अनुकूल असर हुआ और वे बोल पड़े कोई बात नहीं, जब चाहो आप आ जाया करो अपना घर समझ कर। 'उनके कहने में कितने परतदार अर्थ थे, यह तो बाद में जाना, पर उनके चेहरे पर जो कुछ उस वक्त लिखा हुआ था वो यही कि, 'तुम इनमें से नहीं हो, हमारी अपनी दुनिया के आदमी हो- हमज़ुबाँ भी और हमसुख़न भी। इसी का लाभ लेते हुए मैंने उनसे अपनी इच्छा कुछ इस तरह ज़ाहिर की- मैं आपका गायन कैसे सुन पाऊँगा? 'अरे इसमें क्या है मैं तो रोज़ ही शाम चार बजे रियाज़ के लिए तानपुरा लेकर बैठता हूँ, जब हो आ जाना।' उन्होंने बगैर कोई वक्त ज़ाया किये हुए कहा।

दुनिया में भला असंभव जैसा क्या है? हर ताला किसी न किसी चाभी से खुलता ही है। पर यह उत्सुकता भी मन में थी कि आखिर पाठक जी ऐसा क्या और कैसा गाते हैं कि ये लोग इस बुढ़ापे में उन्हें गाते हुए देखना चाहते हैं। सो भी इसलिए कि हमने मिलकर विदिशा में 'लोकायतन' जैसी जो संस्था बनाई है और जिसका उद्घाटन कवि नागार्जुन और आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने किया है, उसे थोड़ी पापुलरिटी और पुख़्तगी मिले।

थोड़ी देर बैठ के हम तीनों सीढ़ियाँ उतर सड़क पर आ गए और अपने-अपने ठिकानों की तरफ़ बढ़ने लगे। मेरा घर तो नीमताल की तरफ़ था इसलिए मैंने बाँसकुली वाला रास्ता पकड़ा और उन दोनों ने माधवगंज, स्टेशन वाला। जाते-जाते वे दोनों ज़रूर कह गये- अब आप ही पर है पाठक जी जैसों को साधना और मुकाम पर लाना। मुझे भी लगा कोई इतनी मुश्किल सी बात भी नहीं है। दुनिया में भला असंभव जैसा क्या है? हर ताला किसी न किसी चाभी से खुलता ही है। पर यह उत्सुकता भी मन में थी कि आखिर पाठक जी ऐसा क्या और कैसा गाते हैं कि ये लोग इस बुढ़ापे में उन्हें गाते हुए देखना चाहते हैं। सो भी इसलिए कि हमने मिलकर विदिशा में 'लोकायतन' जैसी जो संस्था बनाई है और जिसका उद्घाटन कवि श्री नागार्जुन और आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने किया है, उसे थोड़ी पापुलरिटी और पोख़्तगी मिले। शहर के कुछ और चुनिंदा नागरिक उससे आ जुड़ें जिससे संस्था द्वारा किया जा रहा खर्चा पूरा किया जा सके।

एक दिन शाम को मैं घड़ी देख ठीक चार पर उनके निवास पर पहुँचा। वे केवल लँगोट में थे और पालथी मारे अपने सुरों को तानपुरे के साथ साध रहे थे। पीछे खुलने वाले दोनों दरवाजे उठँगे हुए थे। उन्होंने हाथ के इशारे से मुझे कुर्सी पर बैठने का निर्देश किया और मैं बैठ गया वे फिर अपने रियाज़ में चले गए, मैं देर तक उनकी इस साधना का साक्षात्कार करता रहा। तीस-चालीस मिनट बाद बीच में जब उन्होंने विराम लिया तो मैंने कहा 'मैंने तो आपको सुन लिया, पर आधा-अधूरा; जैसे कोई किसी नाटक को उसके रिहर्सल के दौरान देखे। पर जब आप तबले और सारंगी या हारमोनियम पर अपने संगतकारों के साथ गाते होंगे, तब यही कितना अलौकिक और दिव्य हो उठता होगा। ये स्वर जो अभी सिर्फ किसी उस्ताद द्वारा उसके अपने अखाड़े के रियाज़ भर हैं; महफ़िलों में कितना सज सँवर कर हाज़िर होते होंगे। पता नहीं क्यों मेरी इच्छा हो रही है कि मैं आपसे कहूँ कि यह गाना समूचा विदिशा देखे और सुने।'

वे मुझे ध्यान से सुनते और मेरी नावाकिफ़ी पर सोचते से रहे। फिर बोले- 'तुम तो भैया यूपी के ठाकुर हो न? कलिया-मछरी खाते होंगे, शिकार को जाते होंगे। यहाँ तो लोग प्याज लहसुन भी नहीं खाते। बस गेहूँ और गुलाबी चना पैदा करते और उसी का कारोबार करते हैं। बनियों की इस मण्डी में गाने-बजाने का क्या काम?' थोड़ा रुक कर अपनी बात को और साफ़ करते हुए कहा- 'यहाँ सिर्फ गेहूँ और गुलाबी चने का भाव चलता है। उसी की कीमत है।' यह सब उनके कहने का अंदाज़ मुझ जैसे नौजवान और उत्साही अध्यापक को बतौर नसीहत देने जैसा था। मतलब यह कि तुम भी कहाँ गाने बजाने और कला का भाव लगाने इस गेहूँ और गुलाबी चने की मंडी में चले हो।

अब, जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, उनके कहे के पीछे का दर्द मेरा पीछा कर रहा है। एक ऐसा शहर जो पुराने ग्वालियर राज्य का अपना शहर हो, आजादी के बाद भारतीय गणतंत्र का हिस्सा बन चुकने पर विदिशा के ही तख्तमल जैन जिसके मुख्य मंत्री, यहीं के रामसहाय जी विधान सभा के स्पीकर, और मुख्य विरोधी दल हिन्दू महासभा के नेता डॉ. जमुना प्रसाद मुखरैया हों, उसी शहर में अधिकांश लोग यह जानने की कोई ज़रूरत तक नहीं समझते थे कि कोई इतना बड़ा कलाकार जिसका नाम गंगा प्रसाद पाठक है, लोहा बाज़ार वाले मुहल्ले में रहता है।

याद पड़ता है, एक बार जब मैंने पाठक जी की चर्चा बाबू रामसहाय जी से की, क्योंकि तब वे कांग्रेस की ओर से राज्यसभा में सांसद थे और पाठक जी के किसी कागज के समर्थन में उनके दो-एक शब्दों में सिफारिश करवानी थी तब उन्होंने लगभग भाव न देते हुए अजनबियत के लहजे में मुझसे जैसे पूछते हुए कहा था- वही जो तबला-वबला बजाते हैं। उनकी इस धारणा और जानकारी पर मैं दंग ही रह गया था।

पाठक जी ने कभी तबला भी बजाया हो, मेरी जानकारी में नहीं था। शायद बजाया भी हो। पर यह जानकारी तो ग्वालियर के ही उनके परमप्रिय और विदिशा निवासी शिष्य मथुरा मोहन जी ने मुझे दी थी कि पाठक जी पहले बहुत अच्छे पखावजी थे। गाना तो उन्होंने बाद में शुरू किया तभी से मेरे मन में यह जिज्ञासा कुलबुला रही थी कि कभी पूछूँगा ज़रूर पर, अभी तो मैं उनकी प्रियता की सूची तक में नहीं हूँ। तब ऐसे मूड बिगाड़ देने वाले सवाल पूछना निहायत अव्यावहारिक सी बात होगी। मेरे सामेन असली समस्या तो अभी उनके गायन की सभा को लेकर थी, और वे थे कि इस बात पर राज़ी होने को तैयार नहीं। साथ ही इनकार करके छुट्टी कर देने के मूड में भी नहीं। जब कभी शामों को रास्ते में उन्हें मिलता, प्रणाम करता और उनको याद दिलाता। वे यही कह आगे बढ़ जाते अरे ठाकुर साहब (कभी-कभी बाबू राजा भी) ज़रा रियाज़ वगैरह कर लूँ। कहा है, तो गा भी दूँगा।' बाद में यह भी पता लगता कि कोई चितले वगैरह उनके शिष्य हैं। वे नहीं चाहते कि पाठक जी हर किसी के कहने पर गाने बैठ जायें। विदिशा मेरे लिए एक नया सा शहर था। छोटा-सा पचास-साठ हजार आबादी वाला कस्बेनुमा शहर और ध्वस्त होती सामंती तबीयत के लोग।

एक दिन शाम को अजीब सा बाकया हुआ। यही कोई चार-पाँच के आस-पास का समय। मैं महारानी कन्या उच्चतर माध्यमिक स्कूल के ठीक बगल बनी दुकान से सब्जी खरीद रहा था और वे अपनी दिनचर्या के हिसाब से चिंतामणि गणेश मंदिर की तरफ़ जा रहे थे कि मुझे देख पास आ खड़े हुए- 'क्यों बेटा कौन सी सब्जी ले रहे हो, तुम्हारे अवध में तो तरकारी होती है न?' मैंने हामी भरी- हाँ, दादा। और आप?'

'मेरे तो बस दो ही नशे हैं बेटा! सुबह साइकिल लेकर रामघाट तक जाना और बेता में स्नान। शाम चिंतामणि गणेश के दरबार में हाज़िरी बजाना। उन्होंने अपने वाक्य पूरे किए नहीं कि मैंने घेरा- और दादा, कब गा रहे हैं?' उन्होंने जवाब आग का गोला जैसा फेंकने के अंदाज़ में दिया - 'आप क्या हमारे बाप हैं जो कहेंगे और मैं गाने बैठ जाऊँगा।' जवाब सुनकर मेरा सन्न रह जाना स्वाभाविक था। उन्हें भी शायद लगा कि कुछ अधिक ही कठोरता बरत गए हैं। वे अपने और मैं अपने रास्ते चल पड़े, बगैर एक दूसरे से कुछ कहे। इस घटना को जब महीने दो महीने हो गए रास्ते में आते-जाते मैं उन्हें देखता और अनदेखा कर आगे बढ़ लेता। एक दिन वे ठीक सामने आ खड़े हुए- 'लगता है राजा बाबू, मुझसे नाराज़ चल रहे हैं। सलाम बंदगी तक नहीं करते।' मैं तो भरा हुआ था ही- 'अब आप बताएँ, कोई बुजुर्ग जिसे हम इतनी इज्जत देते हों वही अपना शिष्टाचार छोड़ने पर उतारू हो जाय तो क्या करें? आपने कहा कि 'क्या आप मेरे बाप हैं'? इसका मतलब तो यही हुआ न कि मैं आपसे कोई गैरवाजिब अनुरोध कर रहा था। आपने तो जैसे मुझे मेरी औकात ही बता दी।' वे तब दूसरे ही मूड में आ गए- 'अच्छा चलो वचन देता हूँ कि तुम ज़मीन पर भी बैठ कर गाने को कहोगे तो गा दूँगा' मैं इस बार कैसे भी चूक जाने को तैयार नहीं

था- 'मैं ऐसा क्यों कहूँगा। मुझे आपकी महत्ता का पता है।' मेरा वाक्य सुन वे और भी पिघल उठे- 'जाओ! तैयारी करो। तुम्हारे कहने पर बस इस विदिशा में आखिरी बार गाऊँगा।'

मैं दौड़ा-दौड़ा 'लोकायतन' के साथियों को ख़बर देने पहुँचा कि पाठकजी तैयार हो गए हैं अब आप लोग अपनी तैयारी करो। वे सब यह सुनकर खुश हो उठे। चार-छह रोज बाद मैं उनके निवास पर गया-

'दादा! आपने तो हाँ कर दिया, पर आपके साथ बजायेंगे कौन-कौन?' मैंने उन्हीं से प्रश्न पूछना चाहा।

'अब तुम इतना पैसा तो जुटा नहीं पाओगे कि सारंगी के लिए रामनारायन और तबले की संगत पर सामता प्रसाद को बुला सको। ये लोग बहुत पैसा मांगेंगे। तुम्हारे दो-तीन महीने की तनख्वाह पूरी नहीं पड़ेगी। इसलिए ऐसा करो, भोपाल आकाशवाणी पर इस्माइल दद्दू खाँ हैं। अभी कुछ ही दिनों पहले वो अमीर खाँ साहब के साथ विदेशों मे बजाकर लौटा है। मेरा नाम लोगे तो आ जायेगा और ललितपुर में एक आदमी है, जिसे मैं लखनऊ रेडियो स्टेशन पर सुन चुका हूँ। तैयार है अच्छा बजा रहा है। नाम है गिरधारीलाल। दोनों महँगे भी नहीं पड़ेंगे और मैं इन्हें निभा लूँगा। ये बजा लेंगे मेरे साथ।'

पाठक जी का गायन केवल असाधारण नहीं था, अलौकिक जैसा भी था। रस जो चमत्कृत और अभिभूत करे, चमत्कार जो रसलीन और विस्मित कर दे। जिस पर भरोसा भी हो और नहीं भी कि, अगर पाठकजी इसी तरह के गायक हैं तो फिर वे एक दिव्य गायक हैं। तानें जहाँ हवा की अनेक तरंगों सी उठती हैं और अथाह समुद्र में लहरों सी खेलती रहती हैं।

'निभा लेने' वाले उनके मुहावरे को तो मैं तभी समझ पाया, जब वे दोनों उस विचित्र और असाधारण गायक के साथ संगत करने बैठे। ऐसा भी मौका आया जब दद्दू खाँ चूक गए और पाठक जी के पाँवों पर झुक गए। मैं तो अपने जीवन की पहली शास्त्रीय संगीत सभा का अनुभव कर रहा था। रात साढ़े दस से भोर तीन साढ़े तीन तक सभा चली। लगभग पाँच-साढ़े पाँच घण्टे। पहले बाहर पण्डाल में, फिर अधिक ठंड बढ़ने पर बड़जात्या शिशु मंदिर के बंद कक्ष में एक ही गायक एक ही तबला वादक और सारंगी नवाज ऐसा तो कभी सुना नहीं था, देखने पर तो क्या कहूँ। सब सामने घट रहा था अड़सठ- उनहत्तर की उम्र और चेहरे पर नौजवानों सी ताज़गी और जोश!

शास्त्रीय संगीत मेरे लिए जैसे कोई अजनबी इलाका था। पर इस सभा ने मुझे एहसास कराया कि मैं तो एक वंचित रसिक हूँ; आधा-अधूरा। पाठक जी का गायन केवल असाधारण नहीं था, अलौकिक जैसा भी था। रस जो चमत्कृत और अभिभूत करे, चमत्कार जो रसलीन और विस्मित कर दे। जिस पर भरोसा भी हो और नहीं भी कि, अगर पाठकजी इसी तरह के

उनका ध्यान अचानक पान की दुकान पर खड़े अर्धविक्षिप्त से कवि लल्लू सिंह 'हैराँ' पर पड़ा। उन्होंने मेरे कंधे पर हल्की सी थाप देते हुए ऊँगली के इशारे से उधर दिखाया- वो देख रहे हो न बेटा? वो आदमी कितना गंदा दिख रहा है। तुम तो उसकी बगल खड़े भी नहीं होना चाहोगे। पर उसकी आत्मा बड़ी पवित्र है और मन स्वच्छ और फिर उन्होंने एक दूसरे वरिष्ठ कवि का नाम लिया और टिप्पणी की- 'वो जितने साफ सुथरे कपड़े पहनता और ठाट-बाट से रहता है, उसका मन और उसकी आत्मा इसके गंदे कपड़ों से भी कई गुना गंदी और घिनौनी है' मैं उनकी इस टिप्पणी पर दहल सा गया और सोचता रहा कि इनकी निगाह कितनी गहरी और साफ़ है और वाणी कितनी दो टूक!

गायक हैं तो फिर वे एक दिव्य गायक हैं। तानें जहाँ हवा की अनेक तरंगों सी उठती हैं और अथाह समुद्र में लहरों सी खेलती रहती हैं। यह सब कुछ ऐसे उस दिन घटित हुआ था, जिसे चमत्कार कहना ही उचित होगा।

उस रात वे आह्लादित भी खूब थे। विदिशा के लोगों की गहरी और पुरानी साध तो पूरी हुई ही थी। मैं भी इस बहाने चर्चा में आ गया था कि, पाठक जैसे कलाकार को गवा दिया। फिर तो वे भी मुझे बेटे की तरह ही मानने लग गए। जो कुछ कहना होता खुल कर कहते, मेरे हर अच्छे-बुरे को अपने अच्छे-बुरे से जोड़ कर देखते। मेरे लिए तो यह अतिरिक्त सुख की तरह था। विदिशा में देर रात शुरू होने वाली कवि गोष्ठियों में कभी कभी मुझे साथ लेकर जाते।

एक रात जब मैं उनके साथ जाने को था, न जाने किस प्रयोजन से वे पहले निकल आए और मुझे बाँसकुली के पास वाले धर्मशाला के नुक्कड़ पर मिल गए। तभी उनका ध्यान अचानक पान की दुकान पर खड़े अर्धविक्षिप्त से कवि लल्लू सिंह 'हैराँ' पर पड़ा। उन्होंने मेरे कंधे पर हल्की सी थाप देते हुए ऊँगली के इशारे से उधर दिखाया- वो देख रहे हो न बेटा? वो आदमी कितना गंदा दिख रहा है। तुम तो उसकी बगल खड़े भी नहीं होना चाहोगे। पर उसकी आत्मा बड़ी पवित्र है और मन स्वच्छ और फिर उन्होंने एक दूसरे वरिष्ठ कवि का नाम लिया और टिप्पणी की- 'वो जितने साफ सुथरे कपड़े पहनता और ठाट-बाट से रहता है, उसका मन और उसकी आत्मा इसके गंदे कपड़ों से भी कई गुना गंदी और घिनौनी है' मैं उनकी इस टिप्पणी पर दहल सा गया और सोचता रहा कि इनकी निगाह कितनी गहरी और साफ़ है और वाणी कितनी दो टूक। तुलना करने और उपमा देने की उनकी मेधा भी कितनी प्रखर। मैंने समझा कि, पाठक जी सिर्फ एक चमत्कारिक गायक ही नहीं; लोक में विचरण करने और पीतल सोने का फर्क समझने वाले विदग्ध नागरिक भी है। कौन असली है- कौन नकली, किससे समाज को क्या मिलना है, कौन है जो देगा तो कुछ भी नहीं पर घाल मेल कर समाज की निगाह के लिए मुश्किलें खड़ी ज़रूर कर देगा। पाठक जी की निगाह किन्तु इतनी कमज़ोर नहीं थी। वे इस कीमियागिरी को समझते थे और ज़रूरत या मौके पर कहने से भी नहीं चूकते थे।

इस रात उनका मूड अच्छा देख मैंने पखावज वाली अपनी पुरानी जिज्ञासा उनके सामने बक ही दी। पहले तो वे कुछ अनमने से हुए, फिर मन ही मन कुछ तय सा करने लगे - अच्छा! चलो आज यह राज तुम्हें बताए ही देता हूँ और वे पुरानी यादों में किसी गोताखोर से डूबते गए- सही है कि पहले मैं पखावजी ही था और बढ़िया बजाता था। मुझे इसका एहसास भी था। ग्वालियर में ही नहीं बाहर भी मेरा नाम और मेरी माँग थी। एक बार कहीं दक्षिण से कोई बुज़ुर्ग गायक आए और मैं उनके साथ उस रसिक गोष्ठी में संगत करने बैठा। मेरे वादन पर वो खुश भी हुए और तारीफ़ की- 'वाह! क्या बजाते हो। 'मेरे भी मुँह से निकल गया- 'वो तो बजाता ही हूँ।' पर तभी उसकी त्यौरियाँ चढ़ गईं और मूड बदल गया- हाँ अच्छा तो बजाते हो, पर इस बार जो गाऊँगा उस पर नहीं बजा पाओगे।' मुझे उनकी चुनौती अच्छी नहीं लगी। मैंने कहा- 'आप गाइए तो सही।' और बेटा (पाठक जी ने एक उदास और भारी साँस ली उसने सचमुच ऐसा गाया कि मैंने कहा- 'जरा फिर से गाइये।' उसने यह कहते हुए फिर गाया कि- बजा तो फिर भी नहीं पाओगे।' तिबारा फिर अर्ज जैसी की- 'बस एक बार और मौका दें।' उसने भरी महफ़िल में मेरी ओर हिकारत से देखा - कहा न, तुम नहीं बजा पाओगे।' और तीसरी बार भी मैं नहीं बजा पाया। मेरी जितनी बेइज्जती होनी थी उस चढ़ती जवानी में उसी शहर में हुई जिसमें मैंने पखावज सीखा और बजा कर शोहरत पा रहा था। ख़ैर! सभा खत्म हुई तो लोग अपने-अपने घरों की तरफ़ जाने लगे। मैं तो अपमान से भर कर खड़ा ही रहा। तभी वो बाहर निकल, पास की नाली में पेशाब करने बैठ गया। मुझमें गुस्से की आग सी जल रही थी। मैं चुपचाप उसके ठीक पीछे जा खड़ा हुआ और जैसे ही वह नाली से उठकर खड़ा हुआ, मैंने कसकर जोर का एक तमाचा उसके गालों पर जड़ दिया इस सवाल के साथ- 'अब बजा कि नहीं' और यह भी कि 'तुम्हें अपने ही किसी साथी को भरी महफ़िल में अपमानित करने का अधिकार किसने दिया?'

और बेटा उसी दिन से मैंने पखावज बजाना छोड़ दिया और गायकी को सीखने और साधने में लग गया।' उनके इस किस्से के खत्म होते-होते गोष्ठी स्थल आ गया था और हम दोनों अपनी-अपनी चप्पलें उतार सबके बीच जा बैठे।

''ये कैसी जल्वागाह है दुनिया, हज़ारों जा चुके लेकिन वही रंगत है महफ़िल की''। जी हाँ दास्तां है भारतीय फिल्मों के हास्य कलाकारों की। जीवन की तरह फिल्मों में भी हास्य स्वाभाविक रूप से आया है। मानव जीवन अनेक रसों से परिपूर्ण होता है जिनमें हास्य व करुण रस विशेष रूप से व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। हास्य एक अद्‌भुत कला है, रस है जो अंदर से आता है। सही कलाकार मुसीबतों में भी हँसता रहता है, हँसाता है। अधिकांश महान हास्य कलाकार अंदर से दुखी होते हैं परंतु ऊपर से हंसते हुए दिखाई देते हैं। ऐसी विरोधाभासीय स्थिति ही सही हास्य कलाकार की कसौटी होती है। एक बार प्रख्यात अंग्रेजी हास्य कलाकार चार्ली चॅपलीन से पूछा गया कि तुम्हें कौन सी ऋतु अच्छी लगती है? उनका जवाब था, मुझे बरसात की ऋतु अच्छी लगती है क्योंकि उसमें आंसू दिखाई नहीं देते हैं, आँसू छिप जाते हैं।

भारतीय फिल्मों के हास्य अभिनेता

(1935-1970)

मणि खेड़ेकर भट

भारतीय फिल्मों में हास्य कहानी व सिचुएशन के आधार पर निर्धारित होता है। हास्य एक नैसर्गिक कला है जिसका मन से नज़दीक से संबंध होता है। मन की प्रसन्नता हालात पर निर्भर करती है। हास्य एक कठिन विधा होती है। किसी को हँसाना मामूली बात नहीं है। डायलॉग की अदायगी शारीरिक हावभाव, चेहरे की मुद्राएं सब शामिल होती हैं। हास्य बोला और अबोला दोनों ही होता है। मूक फिल्मों में मूक हास्य होता था, जहाँ शब्दों की आवश्यकता नहीं होती थी। वहाँ आँखों से, चेहरे से, शारीरिक हावभाव से, हास्य व्यक्त होता है। कहते हैं महर्षि नारदजी विश्व के सबसे पहले हास्य कलाकार थे।

सन् 1912 से 1931 तक मूक फिल्में बनती थीं। जिनमें हास्य को वाणी नहीं थी सिर्फ चेहरे के हावभाव, ऊटपटांग शारीरिक हरकतों से हँसाया जाता था। उस समय के अंग्रेजी फिल्मों के कलाकारों में चार्ली चेपलिन, बॉब होप इत्यादि नाम मशहूर थे। भारतीय फिल्मों में हास्य की भूमिका का गौरवशाली इतिहास रहा है। इसकी शुरुआत सन् 1935 के आसपास हुई थी। उस जमाने के हास्य कलाकारों में सबकी अपनी एक विशेष स्टाइल होती थी। हर फिल्म में चार विशेष पात्र होते थे, हीरो, हीरोइन, विलेन व एक हास्य कलाकार। इनके बिना फिल्में नहीं बनती थीं।

हास्य में क्रमवार विकास हुआ। शुरु में खेल, तमाशे, नौटंकियां, नाटक व मूक फिल्मों से सवाक फिल्मों तक। उस जमाने में मशहूर फिल्म हास्य कलाकार थे याकूब। सन् 1940 में औरत फिल्म से याकूब का प्रवेश हुआ। याकूब हास्य के साथ-साथ खलनायक व चरित्र नायक का भी रोल करते थे। उनकी हास्य फिल्में बहुत ज़्यादा चलीं जिनमें दिल्लगी, दीदार, बाज़ार, अब दिल्ली दूर नहीं, करोड़पती आदि। उनके ऊपर फिल्माया गया गीत 'चुन चुन करती आयी चिड़िया' बहुत हिट हुआ था। याकूब के बोलने का ढंग, काली तिरछी टोपी झूठ बोलने की आदत आज भी लोग याद करते हैं।

सन् 1945 के आसपास एक बुज़ुर्ग लेकिन टिपटाप रहने वाले, अचकन शेरवानी पहने चश्मा लगाये हुए एक हास्य कलाकार आये जिनका नाम था मिर्ज़ा मुशर्रफ। इन्होंने कई फिल्मों में काम किया। काफी मकबूल नाम था। खासकर उनके बोलने का लहज़ा और बोलचाल में अंग्रेजी में 'आय मीन टू से दैट' से वे जाने जाते थे। इसी दौर में 45-50 के बीच एक सिंधी हास्य अभिनेता गोप का आगमन हुआ। गोप बोले तो ठिगना कद, बाब होप टाईप मक्खी जैसी मूंछें गोल पोपला मुंह व चेहरा, कभी टी शर्ट व नीचे पेंट फोल्ड की हुई, पतली आवाज़। उनका धीरे-धीरे से बोलने का अंदाज़ आज भी याद है, गोप सन् 50 के दशक में फिल्मों छाये रहे। फिल्म पतंगा का मशहूर गाना, 'मेरे पिया गये रंगून किया है वहाँ से टेलीफून', बहुत चर्चित रहा। फिल्म पॉकेटमार में भी उनके ऊपर फिल्माया गया गीत, लड़ी आँख से आँख, खूब चला। वे बात बात में 'पार्टनर' शब्द बहुत बोलते थे। गोप अमर कलाकार थे।

उस जमाने के मशहूर कलाकारों में आग़ा का नाम भी प्रथम श्रेणी में था। सन् 50 के करीब उनका पहले मारधाड़ स्टंट फिल्मों प्रवेश हुआ। आग़ा करीब-करीब हर फिल्मों रहते थे। कभी हीरो के दोस्त, या राजा के सलाहकार। प्रेमनाथ के साथ उनकी फिल्में बादल, साकी वगैरा खूब चली। उनका डायलॉग बोलने की विशेष स्टाइल, पहले गलत बोलना फिर दुरुस्त करके बोलना, भूलने की आदत आदि। एक गीत 'भगवान तुझे मैं खत लिखता, उनके ऊपर फिल्माया गया था'।

सन् 50 से 60 के बीच हास्य अभिनेता राधाकिशन ने कई फिल्मों में अभिनय किया। बैजू बावरा में उनकी विशेष भूमिका थी, 'एक संगीत उस्ताद की'। डायलाग बोलने का उनका अपना एक विशेष अंदाज था, मीठी दबी नकली आवाज़, शुद्ध सहज अभिव्यक्ति। उनकी फिल्म बैजू बावरा का डायलाग, 'वो रही मियां तानसेन की हवेली', आज भी लोगों को याद है। देशी कुत्ते को कलर करके अंग्रेजी कुत्ता बनाकर बेचना, 'मैं तो कहता था यहाँ कुँआ नहीं बनेगा पर मेरी सुनता कौन है', इत्यादि डायलाग प्रसिद्ध थे।

इसी क्रम के दौर में हास्य अभिनेता मुकरी भी कई फिल्मों में आये। छोटे, साढ़े चार फीट हाईट के मक्खी छाप मूंछे, हीरो-हीरोइन के आगे-पीछे घूमना उनकी सहज अभिनय की आदत थी। कभी शेख़ मुख्तार के साथ उनकी विशेष जोड़ी थी। मदर इंडिया में खास भूमिका थी। उन्होंने नौशाद मेहबूबा व दिलीप कुमार के साथ कई फिल्में कीं।

ओमप्रकाश ने सन् 48 से 70 तक कई फिल्मों में हास्य अभिनेता, चरित्र अभिनेता का ऐतिहासिक रोल किया। वे एक सहज बहु प्रतिभाशाली हास्य कलाकार थे। उन्होंने अनगिनत फिल्में की। उन्होंने हीरो का रोल भी किया था। कभी मुनीम, तो कभी शराबी, कभी पंडित। अनेक किरदार किये। उनकी डायलॉग बोलने की शैली भी अलग थी। वे 'बरखुरदार' शब्द बहुत बोलते थे। उन्होंने करीब सभी कलाकारों के साथ काम किया।

इसी दौर में 50 से 60 के बीच कई हास्य अभिनेता आये जिनमें धुमाल, सुंदर, मजनूं, मोहन चोटी आदि ने भी अपनी विशेष इमेज बनाई। सुंदर व मजनूं बहुत पुराने थे। उन्होंने आई एस जौहर के साथ शुरू में बहित काम किया। राम अवतार भी थे। मोहन चोटी पर फिल्माया गया गीत, 'सिकंदर ने पौरस से की जो लड़ाई तो मैं क्या करूं' बहुत चला।

इधर जगदीप ने भी गुरुदत्त के साथ हास्य की शुरुआत में कुछ फिल्में कीं। जगदीप की शोले में भी यादगार भूमिका थी। 'सूरमा भोपाली'। इसी समय हास्य अभिनेता असित सेन, शरीर मोटा पर आवाज पतली ने भी कई फिल्में कीं। खासकर बीस साल बाद, आदि। वे अंदर आने के बाद बोलते थे, 'मे आय कम इन सर'।

इधर छोटे कद के धुमाल ने हास्य कलाकार सुंदर के साथ किशोर की कई फिल्में कीं। जैसे नई दिल्ली, हावड़ा ब्रिज आदि में उनकी यादगार भूमिका रही है।

भारतीय फिल्मों में हास्य कलाकार को हीरो के रूप में स्थापित करने में किशोर कुमार, मेहमूद और जॉनी वॉकर की अहम भूमिका रही है। उनके तो नाम से ही फिल्में चलती थीं। किशोर कुमार गायक व नायक दोने थे। वे एक जन्मजात महान कलाकार थे जिन्होंने गायन में 'योडलिंग' शुरु किया। किशोर शुरू से ही चलती का नाम गाड़ी से फक्कड़ और अलमस्त रहे हैं। उन्होंने हास्य की अनगिनत फिल्में कीं। विशेष तौर पर पड़ोसन, चलती का नाम गाड़ी' हाफ टिकिट में किशोर ने अद्‌भुत कला का प्रदर्शन किया है। किशोर,

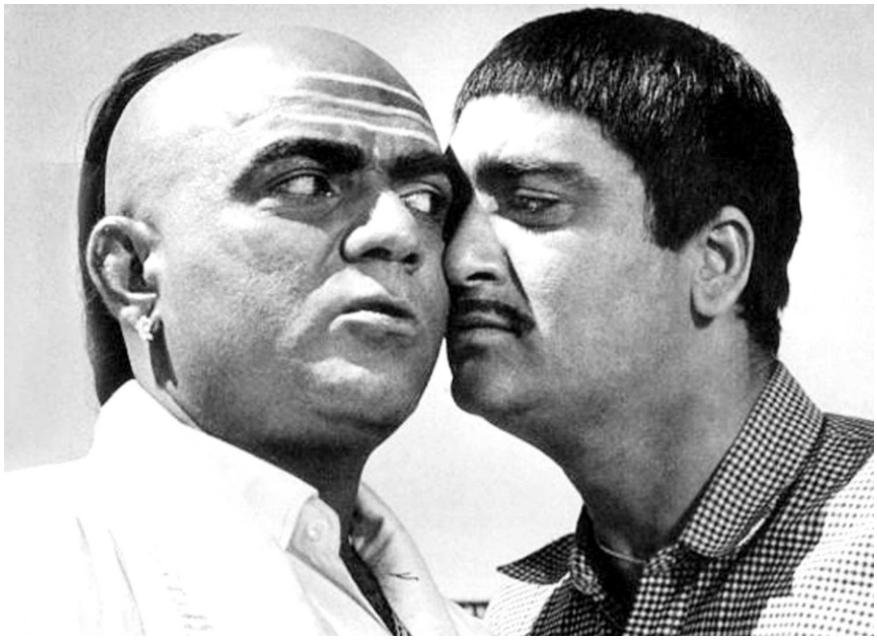

मेहमूद और जानी वॉकर के बिना भारतीय फिल्मों का इतिहास अधूरा है। किशोर के समान दूसरा किशोर नहीं हो सकता है।

भारतीय फिल्मों में हास्य के दूसरे कलाकार याने जॉनी वॉकर। सन् 52-53 से लेकर सन् 65-70 तक उनका हास्य पर एकछत्र राज्य रहा है। 'उनकी हँसाने की कला', एक विशिष्ट शैली की आवाज़ निकालना, कभी डोलते, झूमते शराबी जैसा अंदाज़ का सपना एक अलग रंग था। जॉनी वॉकर की शुरुआत में गुरुदत्त ने पहला ब्रेक दिया। उनकी यादगार फिल्में टैक्सी ड्रायवर, प्यासा, मधुमती, नया दौर, सी आय डी, रेल्वे प्लेटफॉर्म, मेरे मेहबूब, छूमंतर, मि. कार्टून एम.ए., जॉनी वॉकर आदि अनगिनत फिल्में कीं। हर फिल्मों में एक अलग किरदार किया। उन्होंने कभी शायर, कभी कंजूस मारवाड़ी, कभी फोटोग्राफर का रोल किय। उनके ऊपर फिल्माये गये गीत 'जंगल में मोर नाचा', मधुमती, प्यासा का तेल मॉलीश वाला अविस्मरणीय है। उनकी एक स्टाईल 'ए भाय' आज भी लोगों को

याद है। वे ऐसे कलाकार थे जो हीरो के बराबर पारिश्रमिक लेते थे।

भारतीय फिल्मों में हास्य जगत में हास्य अभिनेता मेहमूद का भी एक विशेष स्थान रहा है। सन् 56 में सी आय डी में एक छोटी सी भूमिका से प्रवेश हुआ। मेहमूद जन्मजात हास्य कलाकार थे। उन्होंने 50 और 60 के दशक में अनगिनत फिल्में कीं और सभी में एक यादगार ऐतिहासिक भूमिकाएं कीं। उनकी मद्रासी और हैदराबादी स्टाईल में, 'हम काले हैं तो क्या हुआ दिलवाले हैं' अमर किरदार था। प्यार किये जा, जौहर मेहमूद इन गोवा, काजल, कश्मीर की कली, पड़ोसन जैसी फिल्मों को कौन भूल सकता है।

इसी दौर में उच्च शिक्षित हास्य अभिनेता आय एस जोहर का भी एक दौर था। कोई किसी से कम नहीं था। एक थी लड़की, हम सब चोर हैं, गूंज उठी शहनाई, शागिर्द आदि कई फिल्में उन्होंने कीं व इतिहास में अपना नाम दर्ज कराया। उनकी फिल्म शागिर्द में उनके ऊपर फिल्माया गया गीत 'बड़े मियाँ दिवाने' बहुत चला।

सन् 50-60 दशक में राजेंद्रनाथ ने भी कई फिल्में कीं। जब प्यार किसी से होता है, मुझे जीने दो आदि दर्जनों फिल्में कीं। वे एक आधुनिक सॉफिस्टीकेटेड कॉमेडियन रहे हैं। उनकी स्टाईल फुटबॉल प्लेयर का किट और मोजे पहन कर सांड के समान अपने जूते से जमीन को खुर के समान रगड़ना, स्पोर्ट्समैन का ड्रेस, हाफ पेंट, गेटिस पहनना इ. उनका शगल था। उनकी पोपटलाल की भूमिका को कौन भुला सकता है।

चरित्र कलाकार डेविड ने भी हास्य की कई भूमिकाएं कीं। उनका गंजा व्यक्तित्व भी उनकी हास्य कला में सहायक रहा है। फिल्म बूटपॉलिश में एक गंजे कैदी के रूप में 'गरज गरज तू आ रे बदरवा', विशेष यादगार किरदार था। उसमें उनके साथ में बूड़ो अडवाणी भी थे। गीत बहुत प्रसिद्ध हुआ।

हास्य अभिनय के क्षेत्र में एक महान अभिनेता भगवान का ज़िक्र भी ज़रूरी है। भगवान ने 50 के दशक में स्टंट फिल्मों में कॉमेडियन के रूप में अपना कॅरियर शुरु किया। बाद में उन्होंने कई फिल्मों में अपने विशिष्ट हास्य से दर्शकों को हँसाया व यादगार बन गये। उनकी डायलॉग बोलने की स्टाईल 'ए भाय', बहुत चली। उनका विशिष्ट स्टाईल का डांस तो देश के घर घर, गली गली में प्रचलित हुआ। भगवान के डांस के बिना आज भी कोई शादी पूरी नहीं होती थी। उनकी फिल्में थीं अलबेला, झमेला, चोरी चोरी आदि अनेक कई।

सन् 70 के बाद हास्य कलाकार असरानी ने हास्य परंपरा को अच्छे ढंग से निभाया। फिल्म शोले में उनकी हम अंग्रेजों के ज़माने के जेलर हैं, काफी प्रसिद्ध रही। उन्हीं के समान देवेन वर्मा ने भी स्तरीय ढंग से हास्य अभिनय कर अपना स्थान बनाया।

जिन महान हास्य कलाकारों ने भारतीय फिल्मों को स्तरीय हास्य से समृद्ध किया आज उनकी मज़ार या समाधी पर दिया भी नहीं जलता है। 'ज़िक्र जब होगा जमाने में हास्य कलाकारों का कहीं, याद हम आयेंगे जमाने को मिसालों की तरह।'

भारतीय फिल्मों में महिला हास्य कलाकारों में मनोरमा व टुनटुन ने भी काफी नाम कमाया। मनोरमा और टुनटुन सन् 50 के दशक से काम कर रही थीं। टुन टुन तो उमादेवी के नाम से गाना भी गाती थीं। मेहमूद और सुंदर के साथ उन्होंने बहुत फिल्में कीं। टुनटुन की बम्बईया स्टाईल में 'ए मॅन' बोलना बहुत मशहूर हुआ। मनोरमा की मटकती हुई गोल गोल टब्बू आँखें उनकी खास आदत थी। टुनटुन भी अपने मोटापे का उपयोग अपने हास्य में करती थीं।

सन् 55 के बाद में सन् 65 तक तो उस जमाने के हीरो स्वयं हास्य का रोल करने लग गये। दिलीप कुमार ने आज़ाद फिल्म से शुरुआत की। बाद में राम शाम आदि फिल्में कीं। उनके ऊपर फिल्माया गया गीत 'साला मैं तो साहब बन गया', बहुत चला, बाद में किशोर, शम्मी कपूर, राज कपूर, अमिताभ बच्चन ने भी हीरो होकर हास्य की कई फिल्में कीं।

बाद में हास्य में फूहड़ता आने लगी व स्तरीय हास्य कम होने लगा। बाद में तो हास्य की कला करीब करीब नेपथ्य में चली गई। चालू हास्य आने लगा। आज पुराने हास्य कलाकारों के बारे में लेख या संस्मरण बहुत कम देखे व पढ़े जाते हैं। जिन महान हास्य कलाकारों ने भारतीय फिल्मों को स्तरीय हास्य से समृद्ध किया आज उनकी मज़ार या समाधी पर दिया भी नहीं जलता है। 'ज़िक्र जब होगा जमाने में हास्य कलाकारों का कहीं, याद हम आयेंगे जमाने को मिसालों की तरह।'

नायर साहब अचानक इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं कि उनके हवाले से जितना भी संरक्षित हो पाया उसने फ़िल्मकारों की एक पूरी पीढ़ी के अलावा फ़िल्म क्लब/ सोसाइटी आदि के लिए विदेशी भाषाओं की मास्टरपीस फ़िल्में भारत के लिए इकट्ठी कर लीं। 'सैल्यूलॉइड मैन' में ही कई नामी निर्देशक, अभिनेता, सिनेमा के जानकार ये कहते हैं कि अगर नायर साहब न होते तो वे लोग फ़िल्मकार न बन पाते।

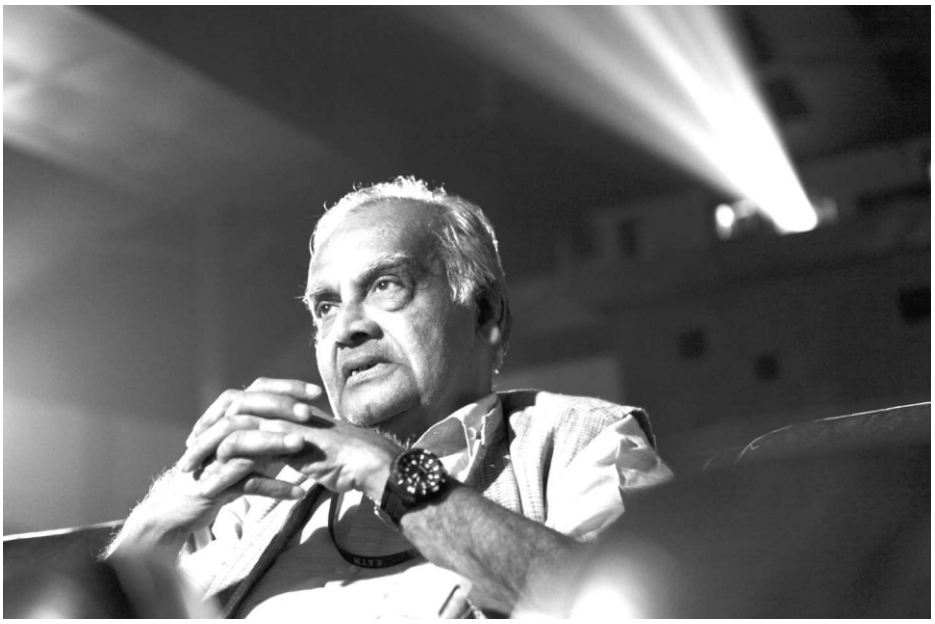

अब आप निश्चिंतता से सो सकते हैं

सुदीप सोहनी

अलविदा 'सेल्यूलॉईड मेन'

गत 4 मार्च को भारतीय सिनेमा के पितामह पी.के. नायर का निधन हो गया। कुछ सालों पहले शिवेंद्र सिंह डुंगरपुर की फिल्म 'सैल्यूलॉइड मैन' ने उनकी ज़िंदगी को जब इस फिल्म में क़ैद किया तो अचानक से हाशिए पर रखे गए नायर को देश में लोगों ने पहचानना शुरू किया। ऐसा भी नहीं है कि नायर के काम को किसी पब्लिसिटी की दरकार थी। खुद नायर ऐसे व्यक्ति रहे जिन्होंने अपने काम को अपने नाम से हमेशा ऊपर रखा। इसलिए राष्ट्रीय फ़िल्म संग्रहालय के साधारण क्यूरेटर के पद से शुरुआत कर वहाँ के निदेशक बनने तक की यात्रा में जो पडाव नायर के सामने आए, उनमें इस संग्रहालय की परिकल्पना कई गुना ज़्यादा मायने रखती है जिसने भारत में फ़िल्मों के संरक्षण की परंपरा शुरू की।

आज के समय में जब दुनिया इतनी तेज़ गति से भाग रही है और डिजिटल क्रान्ति के इतने साधन उपलब्ध हैं तब दुनिया भर की फिल्मों के संग्रहण की बात उतनी मुश्किल नहीं लगती, जितनी की ६० साल पहले इस बारे में सोचना। ये इसलिए भी बहुत मुश्किल लगता है क्योंकि एक ख़ास युवा उम्र में ये तय करना कि आपको जीवन भर करना क्या है, इस बाबत जवाब बहुत आसानी से नहीं मिलता। ऐसे में नायर जैसे व्यक्ति का खुद की सीमाओं को पहचानते हुए फ़िल्मों के संग्रहण की सोचना वाकई अद्भुत और अनूठा है। इतने सालों में संसाधनों से लेकर तंत्र से जूझते हुए, और लगभग साम, दाम, दंड, भेद उक्ति को चरितार्थ करते हुए अपनी सोच-समझ, ज़िद-जुनून से 12000 फ़िल्मों का संग्रह करना (जिनमें 8000 भारतीय और 4000 विदेशी फ़िल्में शामिल हैं) वाक़ई अनूठा और अद्भुत है।

केरल में जन्मे नायर को फ़िल्मों से बचपन से लगाव था और बचपन से ही उन्हें फ़िल्मों के टिकट, पोस्टर जमा करने का शौक था। इस शौक ने उन्हें फ़िल्मकार बनने की गरज से बंबई पहुंचाया और जल्दी ही उन्हें इस बात का एहसास हो गया कि सिनेमा से उनके लगाव में उनको फ़िल्मकार बनाने लायक तत्व नहीं। पर इसी शौक के कारण उनका जुड़ाव पुणे स्थित भारतीय फिल्म और टेलीविज़न संस्थान से हो गया। वहाँ से लाइब्रेरियन बतौर शुरू हुआ उनका सफ़र जल्द ही फ़िल्मों के संग्रहण के विचार की ज़िद से होता हुआ सन 1964 में राष्ट्रीय फिल्म संग्रहालय की स्थापना तक पहुँच गया। फिल्म संस्थान में रहते हुए उन्होंने फ़िल्मों के संग्रहण के अपने शौक में एक सिनेमाघर की परिकल्पना भी की जिनमें फिल्में दिखाई जा सके। उस दौर के फ़िल्मकारों, जानकारों की सलाह और नायर की इच्छा के बाद सरकार ने फिल्म संस्थान के पास में ही एक ज़मीन पर आर्काइव शुरू करने का ज़िम्मा उन्हें सौंपा। सहायक तथा क्यूरेटर के पद से शुरू हुए सफर का एक ही मकसद था- फ़िल्मों का संग्रहण। सिनेमा तब फिल्म (कैमरा रील) पर बनता था और अगर आज भी मौक़ा मिले तो ये तय है कि फ़िल्मकार उस रील पर ही फिल्म बनाने को

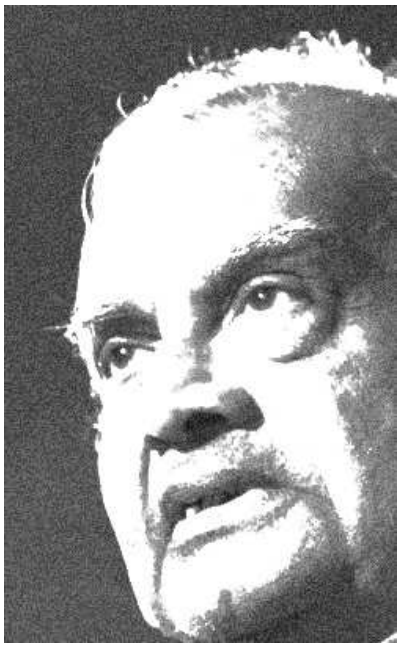

नायर साहब की ज़िद और जज़्बे के आगे इतिहास सिमटा हुआ है। इतिहास शायद इसी तरह बनता भी है। देर सबेर ही सही, तकनीक ने हमें फिल्मों को सहेज कर रखना सिखा दिया है। जावेद अख्तर ने कैफी आजमी के लिए लिखा है, 'अजीब आदमी था वो...'। अपनी तरह की ज़िद के इस जज़्बे को हम बस महसूस ही कर सकते हैं। अलविदा 'सेल्यूलॉईड मैन'! अब आप निश्चिंतता से सो सकते हैं।

प्राथमिकता देंगे। डिजिटल युग में कैमरा चलाना आसान तो हुआ है, रील की तुलना में कई गुना कम खर्चीला भी है। उस दौर में ये फ़िल्में रील के कंटेनर में भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाई जाती थी। फिल्मांकन के बाद कई कैमिकलों के लेप के बाद 'रील' की प्रोसेसिंग और उसको 'डेवलप' करने के बाद इसे सिनेमाघरों में पहुंचाया जाता था। यहाँ तक तो ठीक था, पर जिस एक चीज़ के लिए खुद सिनेमा बनाने वालों का भी ध्यान नहीं था वो था उनका 'रिस्टोरेशन'। दादा साहब फाल्के की 'राजा हरिश्चंद्र' जो 1913 में बनी थी, उसके 50 साल बाद सिनेमा के संरक्षण का काम हमारे देश में शुरू हुआ। इतने सालों बाद जब इस दिशा में पहल हुई तो पता लगा कि 'राजा हरिश्चंद्र' सहित पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' का इतिहास केवल कागज़ तक ही सीमित है। और तो और सन 50 के पहले की 1700 मूक फ़िल्मों में से 20 फ़िल्में ही टुकड़ों में उपलब्ध हैं, और उनमें से भी केवल ७ ही पूर्णत: सुरक्षित हैं (एक आंकड़े के अनुसार)।

नायर साहब अचानक से इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं कि उनके हवाले से जितना भी संरक्षित हो पाया उसने फ़िल्मकारों की एक पूरी पीढ़ी के अलावा फ़िल्म क्लब/सोसाइटी आदि के लिए विदेशी भाषाओं की मास्टरपीस फ़िल्में भारत के लिए इकट्ठी कर लीं। 'सैल्यूलॉइड मैन' में ही कई नामी निर्देशक, अभिनेता, सिनेमा के जानकार ये कहते हैं कि अगर नायर साहब न होते तो वे लोग फ़िल्मकार न बन पाते। नायर की इस ज़िद के खजाने में इंगमार बर्गमैन, अकीरा कुरोसावा, माइक्लोस जान्को, क्रिजेज़्तोफ ज़नूसी, आन्द्रे वाज़्दा, विटोरियो दे सिका, फेदरिको फेलिनी जैसे विदेशी फ़िल्मकारों और सत्यजीत रे, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, वी शांताराम आदि भारतीय फ़िल्मकारों के अलावा भारतीय सिनेमा के न्यू थिएटर, बॉम्बे टॉकीज़, मिनर्वा मूवीटोन, वाडिया मूवीटोन, जेमिनी स्टुडियो आदि निर्माण कंपनियों की फ़िल्में शामिल हैं। खासतौर पर राजा हरिश्चंद्र, कालिया मर्दन, जीवन नैया, बंधन, कंगन, अछूत कन्या, किस्मत, चंद्रलेखा जैसी फ़िल्में उल्लेखनीय हैं। सही मायने में हिंदुस्तान सिनेमा उनकी वजह से ही देख पाया और उनकी वजह से ही सिनेमा देखने का 'कल्चर' भी विकसित हुआ जिसके रहते फिल्म संस्थान में 'मेन थिएटर' और फ़िल्म आर्काइव के थिएटर में रोज़ फ़िल्मों के प्रदर्शन होना एक बड़ी उपलब्धि है। सिनेमा के किसी भी मुरीद के लिए यह किसी 'ट्रीट' से कम नहीं। फ़िल्म संस्थान में रहते हुए मैंने भी कई बार वहाँ आए हुए फ़िल्मकारों और पुराने तकनीशियनों से बातचीत में नायर साहब के बारे में कौतूहल भरे सवाल किए। जवाब में नायर साहब के इस जुनून को लोगों ने 'हैकिंग' और 'क्रैकिंग' के फर्क की तरह इसे 'पायरेसी' का सकारात्मक संस्करण ही माना। रातों-रात किसी फ़िल्म के प्रिंट बना लिए जाते और एडिटिंग के जुनूनी लोग तमाम मुश्किलों के बाद इस तरह से फ़िल्म आर्काइव की बुनियाद में शामिल रहे। इन सब के बाद त्रासदी यह रही कि रिटायर हो जाने के बाद नायर साहब को उसी आर्काइव में जाने की पाबंदी भी लगा दी गई। पर उनका मन कहाँ मानने वाला था, उन्होंने ने भी अपनी ज़िद और जीवटता से केरल के बदले पुणे में ही रहना चुना और वहीं अंतिम सांस भी ले। एक इंटरव्यू में नायर साहब के साथ फ़िल्म के दौरान रहते हुए अपने अनुभव को याद करते हुए शिवेंद्र यह कहते हैं कि 'उन्हें (नायर साहब को) सिनेमा से प्यार था और कई सालों बाद भी जब आर्काइव में वो गए तो उन्हें याद रहा कि किस कैन में कौन सी फ़िल्म की कौन सी रील रखी है या फलां सीन किस रील में होगा'!

नायर साहब की ज़िद और जज़्बे के आगे इतिहास सिमटा हुआ है। इतिहास शायद इसी तरह बनता भी है। देर सबेर ही सही, तकनीक ने हमें फिल्मों को सहेज कर रखना सिखा दिया है। जावेद अख्तर ने कैफी आजमी के लिए लिखा है, 'अजीब आदमी था वो...'। अपनी तरह की ज़िद के इस जज़्बे को हम बस महसूस ही कर सकते हैं। अलविदा 'सेल्यूलॉईड मैन', अब आप निश्चिंतता से सो सकते हैं।

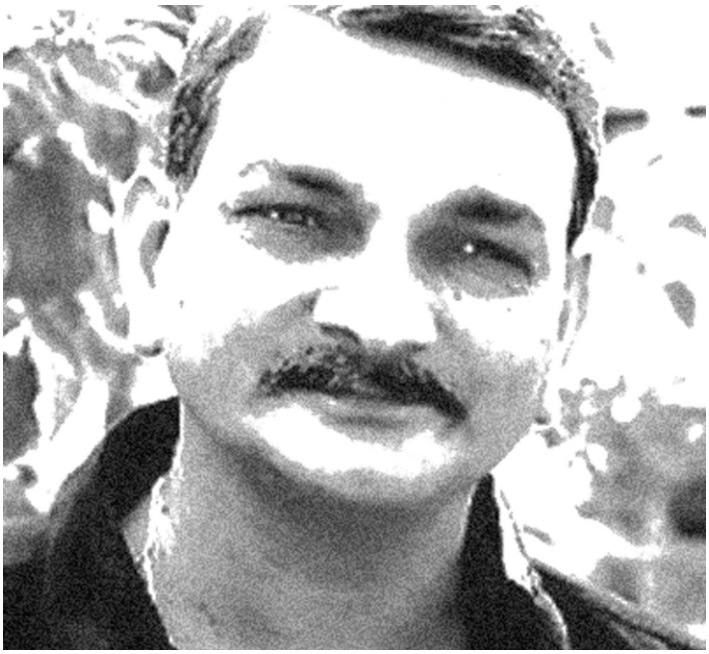

कला के हर रूप में झरता जीवन संगीत

संवाद

चित्रकार-कवि संदीप राशिनकर से स्मृति आदित्य की वार्ता

चटख रंग, सधी हुई तूलिका, बोलती आकृतियां, सहज रेखाएं, मन को छू लेने वाली भाव-प्रवणता और कला के नित नूतन आयामों के साथ जिस शख़्स ने सुकोमल सांस्कृतिक संसार में अपना एक ख़ास स्थान बनाया है वह संदीप राशिनकर है। संदीप के रचना संसार से गुजरना यानी स्वयं को निरंतर चौंकाने के लिए तैयार करना है, दूसरे शब्दों में कहें तो जितना आप संदीप की कला को क़रीब से जानते हैं उतना ही आप स्वयं को चमत्कृत पाते हैं। संदीप बहुमुखी सृजनधर्मिता के वाहक हैं और कला को जनमानस के बीच ले जाकर उनकी धड़कनों में बसाने को प्रतिबद्ध हैं।

संदीप कहते हैं, ''कला के रचनात्मक मूल्यों को सहेजने की आवश्यक शर्त है कि कला जनमानस में न सिर्फ़ पैठ बनाए बल्कि उनके मन में सहज आत्मीयता के भाव भी जागृत करे। येनकेन प्रकारेण कलाकृतियों के ऊंचे दाम तो हासिल किए जा सकते हैं किंतु उसे कलाप्रेमियों के मध्य लोकप्रिय नहीं बनाया जा सकता। कलाकारों का दायित्व है कि कला को दीवाने-ख़ास से निकालकर दीवाने-आम की पसंद बनाएं।''

संदीप जिस सहजता के साथ अपनी कला से हमें रूबरू करवाते हैं, यकायक यह विश्वास करना मुश्किल है कि इंजीनियर होकर कला संसार में यू टर्न लेने वाला यह शख़्स इतनी गहराई से अपनी कृतियों पर चिंतन करता है। तकनीकी पक्ष जहां उनके कला पक्ष की मज़बूती है वहीं ज्यामितीय रूपाकार उनके द्वारा निर्मित म्यूरल्स की गरिमा। संदीप की ख़ास बात है कि उन्होंने अपनी कला को बांधा नहीं है बल्कि हर रूप में बहने और झरने दिया है। यही वजह है कि उनके चित्रों में निर्बाध कोमलता भी है और कड़ा अनुशासन भी। संदीप ने अपनी सोच, अपने विचार और अपनी कल्पनाशीलता को हर विधा, हर स्वरूप में सहजता से प्रवाहित होने दिया है। कला के लगभग हर रूप में संदीप ने स्वयं को अभिव्यक्त किया है और साहित्य की विधा में भी सुव्यक्त होने का सशक्त प्रयास किया है। बात यहां तक भी नहीं रुकती, संदीप को कला जगत में जो बात विशेष बनाती है वह है उनकी नवोन्मेषी सोच। अपनी कला को सबसे अनूठा, सबसे सुंदर और सबसे ज़्यादा संप्रेषणीय बनाने के लिए वे अपने इंजीनियर होने की दक्षता का भरपूर इस्तेमाल करते हैं और 'ब्रास वेंचर' जैसी रोमांचित कर देने वाली आकर्षक विधा से कला जगत का परिचय करवाते हैं।

उनकी कृतियां देश-विदेश की विविध पत्र-पत्रिकाओं से हौले से झांकती हुई कब मुख्य पृष्ठों पर जगमगाने लगी और फिर यहां से विधागत स्वरूप बदलते हुए (म्यूरल्स के रूप में) कब घर-आंगन और भव्य प्रतिष्ठानों की दीवारों पर मुस्कुराने लगी, इसका अंदाज़ा उन्हें भी नहीं है। कविताओं के रेखांकनों से गुज़रते हुए कब कविताएं उनके मन में भी आकार लेने लगीं उसकी भी निश्चित तिथि नहीं बताई जा सकती। एक पंक्ति में संदीप का परिचय यही है कि एक ऐसा कलाकार जो कला के किसी भी झरने का पानी बन सौन्दर्य का वितान रचने के आतुर है।

अभिनव रेखांकनों से आरंभ संदीप की कला-यात्रा आरंभ में गोवा, मुंबई, इंदौर सहित कई शहरों की चित्र-प्रदर्शनियों में झिलमिलाई, फिर एकल चित्रों के माध्यम से संदीप ने अपनी एक अलग पहचान बनाई। सुप्रतिष्ठित कला व साहित्यिक पत्रिकाओं के आवरणों पर संदीप की तूलिका ने सु-आकृतियां रचकर सफलता के द्वार सजाए और कला संसार में उनका सबसे विशेष अवदान उनकी विलक्षण सोच का उत्कृष्ट उदाहरण है और वह है ब्रास वेंचर, जिसमें संदीप किसी विशेष धातु में अपनी कला को रूपायित कर चमकदार कृति को रचते हैं।

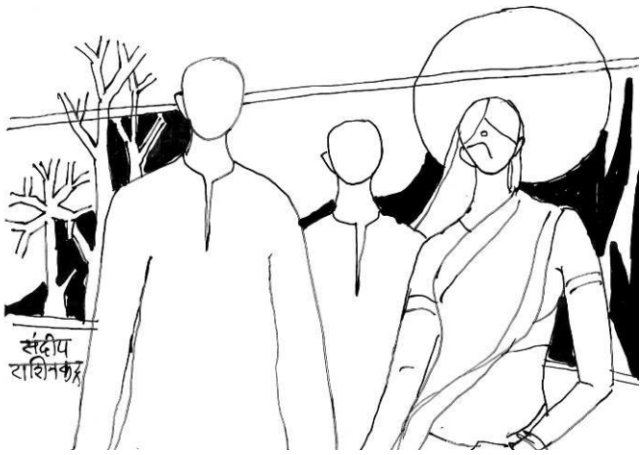

संदीप अपनी कला के बारे में कहते हैं-

''कलाएं जीवन को सुंदर ही नहीं समृद्ध भी बनाती हैं। जनमानस में कलाओं के प्रति अभिरुचि व आसक्ति का निर्माण करना यानी समाज और दुनिया को ख़ूबसूरत बनाना है। रचनात्मकता ही है जो समाज में प्रेम व भाईचारे का निर्माण कर सकती है। विध्वंस के इस भयावह दौर में विध्वंस का मुंहतोड़ जवाब सिर्फ़ रचनात्मकता ही हो सकती है। इसीलिए समाज में कलाओं और रचनाधर्मिता की स्थापना व संवर्धन की आवश्यकता है। साथ ही मैं मानता हूं कि सर्जक को कलाकार दर्शक ही बनाते हैं। जब तक आपकी कला दर्शकों द्वारा मान्य, स्वीकृत या प्रशंसित नहीं होती तब तक आप मात्र सर्जक हैं, कलाकार नहीं। कलाकार वह ताज है जो आप स्वयं धारण नहीं कर सकते। इसे दर्शकों द्वारा ही आपकी कला की स्वीकृति पर पहनाया जाता है।

''मैं अपनी कला में अर्जित प्रवीणता, नवीनता व अभिनवता का श्रेय कला प्रेमियों व कला दर्शकों को देता हूं। जिनकी नित नवीन अपेक्षाओं और विश्वास ने निरंतर नया रचने को प्रेरित किया व उस पर अपनी पसंद की मोहर लगाकर मेरी पहचान बनाई।''

बदलते दौर में कलाकार के संघर्ष को लेकर उनका कहना है- ''कलाकार और उसके संघर्ष पर दो स्तरों या आयामों पर चर्चा की गुंजाइश है। पहला व महत्वपूर्ण आयाम है, कला सृजन व अभिव्यक्ति के स्तर पर कलाकार का सृजन के दौरान संघर्ष, दूसरा है सृजनोपरांत कला की कला बाज़ार में अपेक्षित स्वीकृति का संघर्ष।

कला अभिव्यक्ति का माध्यम होने से इसमें सर्जक व दर्शक दो पक्षों की मौजूदगी अपेक्षित है। क्योंकि जब तक सर्जक द्वारा सृजित या अभिव्यक्त कला दर्शक तक नहीं पहुंचती सर्कल पूरा नहीं होता, जो अभिव्यक्ति की मूल भावना को नष्ट करता है। इसलिए अपेक्षित है कि कलाकार द्वारा जो सिरजा जा रहा है वह न सिर्फ़ दर्शकों तक पहुंचे बल्कि उससे सार्थक संवाद भी स्थापित करे।

मेरा मानना है कि कलाओं को कला दीर्घाओं से निकाल कर लोगों के बीच ले जाने की आवश्यकता है। कला को लोगों के जीवन में शामिल करने की आवश्यकता है। इसी भावना से प्रेरित होकर मैंने कैनवास रंगने की बनिस्बत भवनों के आमुखों, उनकी दीवारों को ही कैनवास बनाते हुए भित्तिचित्रों को माध्यम बनाया और कला को लोगों के बीच ले जाने का प्रयास किया। मेरा सृजन दृष्टिकोण हमेशा यह रहा कि मैं कला के उन पक्षों, उन विधाओं पर काम करूं जिससे कला लोगों और समाज से हमराह हो सके।

मेरी दृढ़ मान्यता है कि संप्रेषणीयता की मूल शर्तों पर भी कला को खरा उतरना होगा अन्यथा वह दिन दूर नहीं जब कला समाज से दूर होते हुए किसी दूसरे ग्रह का अजूबा बनकर रह जाए। निश्चित ही कला के उन्नयन के लिए उसमें प्रयोगधर्मिता अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य भी है। पर हमें यह भी देखना है कि कहीं प्रयोगधर्मिता की अंधी प्रतिस्पर्धा में कलाकृति अभिव्यक्ति की अहम शर्तों से तो विमुख नहीं हो रही? दूसरे शब्दों में कलाकृति 'एबस्ट्रेक्ट' की सीमाएं लांघकर 'एबसर्ड' तो नहीं हो रही?

जहां तक कला बाज़ार का प्रश्न है तो आज ऑनलाइन प्रदर्शनियों, गैलेरी, बिक्री व प्रचार के नए व विस्तृत माध्यमों के चलते प्रस्तुति के विशाल दालान खुले हैं। कलाकारों का इस संदर्भ में संघर्ष कम हुआ है।''

अपनी अद्‌भुत कृतियों की तरह ही संदीप की सोच में भी वह वैज्ञानिकता और सहजता दिखाई देती है जो आज की महती आवश्यकता है। हर बड़े कलाकार की तरह सम्मान, पुरस्कार, लेखन और रचनाओं का अथाह रंगबिरंगा सागर आपको संदीप के आसपास उमड़ता दिखाई दे सकता है लेकिन यह संदीप की ही ख़ूबी है कि वह आपसे सिर्फ़ संदीप होकर मिलते हैं, किसी विशेष शख़्सियत की तरह नहीं। उनकी इस साधारण-सी छवि में कमाल की असाधारण शख़्सियत छुपी है यह आप उनकी कला से मिलकर ही जान पाते हैं।

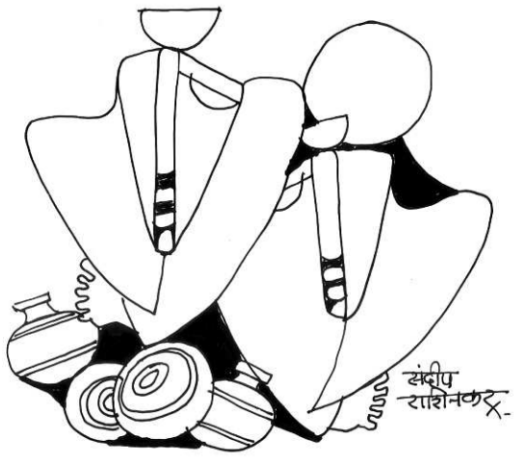

भीम बैठका एकांत की कविता है

प्रेमशंकर शुक्ल

पुनर्प्रवेश

चट्टाने जहाँ पाठ हैं
हमारी सभ्यताओं का
आदि मानव का रहवास रही हैं गुफाएँ
अज्ञातवास-कि जहाँ बैठते थे
परमबलशाली भीम
वही है भीम बैठका

भीम बैठका
एकान्त की कविता है
जो कुछ ज्ञात में
कुछ अज्ञात में सुनी जा सकती है

ध्यान से देखिए न आप
भीम का मौन
चट्टानों को कितना अथाह बना चुका है

स्पर्श

इन चट्टानों में
भीम के तन-मन की
आग भरी है

स्पर्श में कविता है

'भीम' का नाम सुनते से ही
यहाँ के पेड़, पाखी कितने वाचाल हो गए हैं

लपट

जिस चट्टान पर बैठते थे महापराक्रमी भीम
उसमें भी है भीम की तरह
हजार हाथियों का बल
कितना याद आता रहा होगा
यहीं भीम को :
कौरवों का छल, शकुनी की कपट-चाल
चीर हरण के समय हस्तिनापुर के सभा की चुप्पी

पांचाली की चीख यहाँ भी
मथती रही होगी कलेजा

दुर्योधन-दुःशासन के वध की
रह-रह कर भीतर
यहीं उठती रही होगी हूक
यहीं है,
यहीं है-
भीम की उन साँसों की लपट
जल रहे हैं जिनसे आज भी
महाभारत के अमोघ शब्द!

प्रसन्न-संसार

शिलाभवन में
देवी वैष्णवी विराजती हैं
जनश्रुति या लोक विशस कि-
अपने प्रसन्न-संसार के लिए
पुण्यात्मा भीम ने इन्हीं देवी की
की आराधना
फूलों में आज भी
उस प्रार्थना के रंग खिलते हैं
पत्तियों में हरी होती रहती है पवित्रता

चित्र ही

शैलचित्रों में हिरन समूह देखा
नृत्य भी समूह का
अपने पूर्वज आदिवासी जन देखा-
उकेरे हुए और जीवजन्तु भी
कहीं विस्मित हुआ कहीं जिज्ञासु

चित्र ही बचा रहे हैं
भीम बैठका की इन चट्टानों को
नहीं तो यह किसी धन्नासेठ की हवेली में
दीवार बन चुकी होतीं अब तक

इन चट्टानों की छाया
हमारी सबसे प्राचीन संस्कृति की

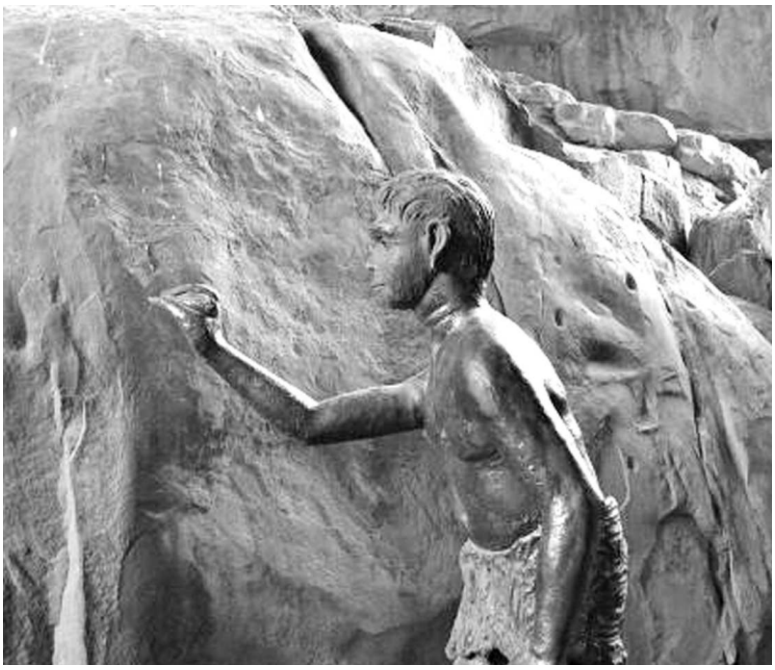

छाया लगती है

एक पर्यटक की तरह
भीम बैठका में बैठना
अपमान की आग में जलते-झुलसते
वनवासी भीम की तरह
बैठना नहीं हैं!

देसावर

भीम बैठका की
चट्टानें फूल हो रही हैं
उदासी को फेंक फूटती थी जो भीम की मुस्कान
चट्टानों की स्मृति में आज खिल उठी है
रामचिरैया ने
बोल-बोल कर
जंगल जगा दिया है
कोयल फागुन गा रही है
और तोते जल्दी लौटने का कह
खाने-कमाने
देसावर चले जा रहे हैं।

सारांश

भीम बैठका सरलता का सारांश है

रेखाओं की बाँक, वलय
और चित्रों के चिरंजीवी रंग
गुनगुना रहे हैं हमारा आदि जीवन

इन रंगों-रेखाओं ने
सहस्त्राब्दियों की लंबी यात्राएँ की हैं
पुरातत्वज्ञानी वाकणकर ने
काफी शोध-मनन से
किया है इसे तस्दीक

शैल चित्रों की रेखाएँ चाहे वक्र हों
या मनुष्य की पोटली
सम्हालने के लिए हों चक्कारार
गुफाएँ चाहे धुली हुई हों
या मटमैली
भीम बैठका सरलता का सारांश है
यह चट्टानें भी पत्थरों का सारांश ही हैं

यहाँ जो कुछ भी
हम देखने आते हैं
वह सारांश ही है
देखने का भी।

आदिवास

भीम बैठका
रेखाओं का गुरुकुल है
और रंगों का आदिवास

शैलचित्रों में
हमारे पूर्वजों की साँसें सुनाई देती हैं
आकृतियों में भी ध्वनियाँ रची गयी हैं

रक्त से अधिक कुछ भी प्राचीन नहीं
हमारी धमनियों में
धरती के सबसे पहले मानव का
लहू दौड़ रहा है
हम कुछ भी बनाते-रचते हैं
शैलचित्रों की इन रेखाओं-रंगों से
कोई न कोई हमारा रिश्ता
जरूर निकल आता है!

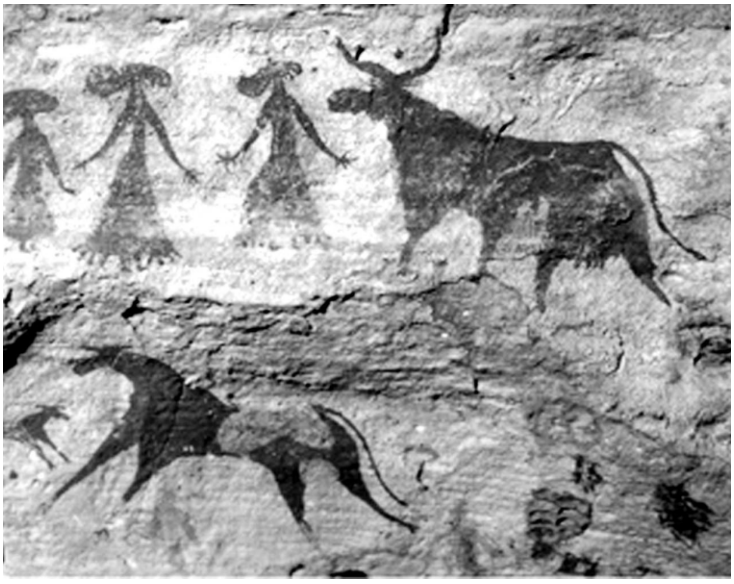

किताब

विगत के रंग-झरोखे

प्रतिष्ठित रंग-समीक्षक जयदेव तनेजा का वृहत दस्तावेजी ग्रंथ है- रंग-साक्षी। यह ग्रंथ विगत पचास वर्षों के हिन्दी नाट्य प्रदर्शन से जीवित संपर्क का साक्षी है। इस बीच वह समय भी था, जो हिन्दी रंगमंच का स्वर्णयुग था। समीक्षक ने न केवल उत्कृष्ट नाट्य प्रदर्शन देखे, बल्कि उन पर सतत लिखा भी।

कहने को यह पचास वर्षों के मंचन का अनुवीक्षण या टिप्पणियाँ हैं। पर इसमें जो नाटक खेले गए वे देश-विदेश के हजारों वर्षों की स्मृतियां हैं। इस तरह यह ग्रंथ उन तमाम महत्वपूर्ण नाटकों का इतिहास भी है, जो नाटक का सर्जनात्मक इतिहास रचते हैं। जयदेव ने नाटकों की सैद्धांतिकी और प्रयोग पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। इनमें बृहद 'रंगकर्मी कोश' भी शामिल है। पर यह कार्य उन सबसे भिन्न और आधारभूत है, क्योंकि नाटक के सारे सिद्धांत रंगकर्म से जन्म लेते हैं। भरत ने जो अनूठा नाट्यशास्त्र लिखा वह भी अपने पूर्व रंगकर्म से जन्मा था। मुझे लगता है कि दूर समर्थ निर्देशक, श्रेष्ठ अभिनेता और रंगकर्म की ्यावहारिकता से जुड़े समर्पित कलाधर्मी अपनी-अपनी जगह छोटे-छोटे भरत हैं, जो अतीत के रंगानुभव से सीखते और भविष्य की सिखाते हैं।

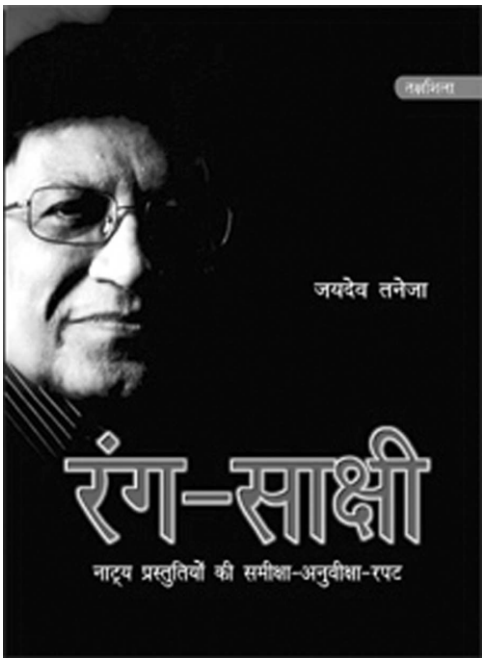

इस दृष्टि से यह पुस्तक रंगकर्म की दीक्षा भी है और ज्ञान भी, जिसमें केवल मंचन की सूची नहीं, बल्कि उनके प्रदर्शन पर लिखे अनुवीक्षण और टिप्पणियां हैं, जिनमें समीक्षा भी आ जाती है और नाट्य विवरण भी। अनायास ही इसमें अपने समय के महत्वपूर्ण निर्देशक, अभिनेता और रंगशिल्पी भी आते ही हैं।

1952 में इब्राहिम अलकाजी द्वारा प्रस्तुत मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की अत्यंत प्रभावशाली प्रस्तुति नए प्रयोगवादी रंगमंच का 'स्पष्ट' प्रारंभ मानते हैं। 'स्पष्ट' के भीतर पूर्व में किए प्रयोगों की भी सांकेतिक स्वीकृति है, जो संभवतः इतने प्रभावशील न रहे हों। उनका मानना है कि सातवें से नौवें दशक तक हिन्दी रंगमंच का स्वर्णकाल था। मैं समझता हूँ कि जयदेव को बाद में इस उत्कर्ष के न बने रहने के कारणों पर भी विचार करना था।

राजधानी में रहने का जयदेव ने जो लाभ लिया और उसे जिस परिणति तक पहुंचाया, ऐसा कम ही लोग कर पाते हैं। छठे-सातवें दशक से दिल्ली रंगभूमि रही है- यहां हजारों की तादाद में नाट्य प्रयोग हुए हैं, जिसमें देश भर के रंगकर्मियों ने सीखा और सिखाया भी है। यह तथ्य है कि छठे दशक के प्रारंभ में इब्राहिम अलकाजी ने दिल्ली मेंजिस आधुनिक प्रयोगवादी हिन्दी रंगमंच की नींव रखी उसने पूरे देश में राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना की। जिसमें प्राचीन और नवीन के साथ विदेशी रचनाओं और नाट्य प्रयोगों को भी भारतीय परिवेश की अनुकूलता में ढाला। पूर्व-पश्चिम के इस सम्मिश्र से अनेक नए प्रयोग सामने आए। क्योंकि दिल्ली में अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं और ढेरों रंगशालाएं हैं। जैसे- राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, संगीत नाटक अकादेमी, इंदिरा गांधी कला केंद्र, साहित्य कला परिषद्, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् और अनेक निजी समूहों की संस्थाएं हैं। इसलिए यहां के रंगप्रेमियों, समीक्षकों, कलाकारों, निर्देशकों आदि की विश्वस्तर के समानधर्मियों से सघन मुलाकातें होती रहती हैं। जयदेव ने भी ऐसी अनेक मुलाकातें की हैं। जयदेव की यह ईमानदार कोशिश रही है कि इस दौर का कोई महत्वपूर्ण प्रदर्शन 'रंग-साक्षी' में आने से न रहे। इसलिए उन्होंने नाट्योत्सवों में मंचित नाटकों की भी इस पुस्तक में शामिल किया है। जैसे 2000 से जारी 'भारंगम' (भारतीय रंग महोत्सव) में आए सैकड़ों प्रदर्शन-जिसमें देश-विदेश के मंचन शामिल हैं- इस पुस्तक में चर्चित हैं।

अगर इस ग्रंथ की विषय सूची पर विचार करें तो लेखक आधुनिक हिन्दी रंगांदोलन के प्रारंभिक प्रतिमान में लेखक इब्राहिम अल्काजी द्वारा निर्देशित तीन नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'तुगलक' और 'अंधायुग' लेते हैं। ओम शिवपुरी के 'आधे अधूरे' और हबीब तनवीर के 'चरनदास चोर' को भी वे इस सूची में शामिल करते हैं। दूसरे खंड में जयदेव 'प्रयोगधर्मिता के विविध आयाम' में इस बीच मंचित नाटकों की चर्चा करते हैं। इनमें कई बार मंचित नाटकों को भी लेते हैं, अगर उनमें नए प्रयोग हों।

तीसरे खंड में वे दिल्ली और अन्य स्थानों पर हुए नाट्य समारोहों के प्रदर्शन को शामिल करते हैं। चौथे खंड में वे 1975 से 1996 तक के अठारह वर्षों में मंचन और उनकी उपलब्धियां, नए प्रयोग या विकास का सार देते हैं। पुस्तक पूरी हो जाने के बाद भी कुछ मंचन शेष रह गए, इसकी चर्चा 'छपते-छपते' में कर वे यथासंभव प्रकट होती है। 'पूर्वरंग' यानी उनकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसमें कार्य का विवरण ही नहीं, उनका सोच, अवधारणा और विश्लेषण है। मेरे विचार से यह अत्यंत महत्वपूर्ण है और पुस्तक पढ़ने की गहरी जिज्ञासा आम पाठक को होती है। यों यह पुस्तक संदर्भ ग्रंथ तो है ही, पूरी तरह से पठनीय भी है। इतनी सच्चाई और परिश्रम से अगर हिन्दी में काम होने लगा तो नश्चिय ही हिन्दी में अनेक महत्वपूर्ण काम हो सकेंगे।

रंग-साक्षी : जयदेव तनेजा; तक्षशिला प्रकाशन; 98-ए, हिंदी पार्क, दरियागंज, नई दिल्ली

-प्रभाकर श्रोत्रिय

किताब

प्रहसन जैसे यथार्थ

पहले यथार्थ पर व्यंग्य के लिए प्रहसन लिखे जाते थे, फिर जब यथार्थ ख़ुद प्रहसन जैसा हो गया तो नुक्कड़ नाटक लिखे जाने लगे। नुक्कड़ नाटक के व्यंग्य में प्रहसन की तरह वक्रता नहीं होती, वह बिल्कुल सीधा और दो टूक होता है। अगर वज़ाहत के नुक्कड़ नाटकों की पुस्तक 'सबसे सस्ता गोश्त' में नाटक 'मुरलीधर की मुरली' में मुरलीधर रिश्वत न लेने का अभियुक्त है। उस पर मुकदमा चलाया जा रहा है, जिसमें उसके बीवी-बच्चे सब ख़िलाफ़ हैं कि उसके रिश्वत न लेने से कैसे उनकी ज़िंदगी फटीचर बनी हुई है। अड़ोसी-पड़ोसी, समाज उसके विरुद्ध गवाही देने आए हैं। पैरोडी जैसी स्थितियों में मुकदमे की कार्यवाहियों की अतिरंजित नकल उतारी गई है। वकील मुरलीधर से पूछता है- 'क्या तुम बिना घूस लिए दोस्ती-रिश्तेदारी निभा सकते हो, परिवार का भरण-पोषण कर सकते हो, बच्चों को अच्छी शिक्षा दिला सकते हो?' वगैरह। लेकिन वकील जो पूछता है उसका कोई जवाब नाटक में नहीं दिया गया है। नाटक यह नहीं बताता कि आख़िर वे क्या तर्क हैं कि कोई व्यक्ति रिश्वत न ले। नाटक के आख़िर में लेखक ने इस सवाल का जवाब दर्शकों के ज़िम्मे छोड़ दिया है।

'सबसे सस्ता गोश्त' नौवें दशक में मंदिर-मस्ज़िद विवाद के समय खूब खेला गया था। उसमें तेज़ गति, गहरा तंज और पाए की नाटकीयता एक साथ हैं। नाटक में हिंदू, मुसलिम से ऊपर नेताओं की जात दिखाई गई है, जो धर्म के नाम पर खेल किया करती है। इन नाटकों में अन्य समकालीन मुद्दों को भी उठाया गया है। नाटक 'देखो, वोट बटोरे अंधा' जातिवादी राजनीति पर एक मज़ाकिया टिप्पणी है। असगर वज़ाहत हमारे समकालीन वक़्त की मूर्खताओं की कुछ परिहासपूर्ण छवियाँ पेश करते हैं।

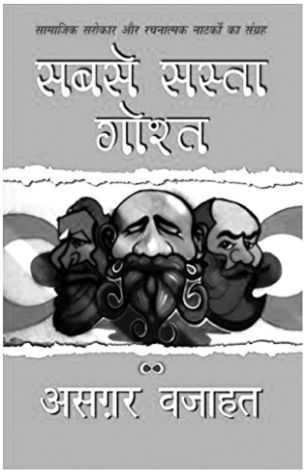

नाटक 'क्या उपाय है' स्कॉलरशिप, फेलोशिप या प्रोजेक्ट लेकर तरह-तरह के टकसाली शोध करने वालों की प्रजाति पर लिखा गया है। नाटक के शोधकर्ता पात्र हमारी व्यवस्था के रटंतू अकादमिक तंत्र के प्रतिनिधि हैं। ज़माने की सच्चाई से बेख़बर वे ज्ञान के संग्रह में लगे हुए हैं। लोककलाओं का विशेषज्ञ पेरिस से लौटा है और जल्द ही उसे तोक्यो होते हुए होनोलूलू जाना है। दूसरा शोधकर्ता सत्य नामक विशेष प्रकाश-किरणों के अनुसंधान में जुटा है, और तीसरे को आदिवासियों पर शोध के लिए दस लाख का प्रोजेक्ट मिला है। वे अकालग्रस्त क्षेत्र में अध्ययन के लिए हवाई जहाज से आए हैं, और रहने के लिए फाइवस्टार होटल के जुगाड़ में हैं। स्थानीय दारोगा से वे एक इंसान की मांग करते हैं, जिस पर शोध कर सकें। दरोगा के लिए इंसान की दो ही श्रेणियां हैं- ज़िंदा या मुर्दा। जो ज़िंदा इंसान लाया जाता है वह मुर्दों से भी गया-बीता है, जिसका मुंह खुलवाने के लिए दारोगा उसे पीट-पीट कर मार डालता है। यह नाटक इस बात की मिसाल है कि नुक्कड़ नाटक प्रचलित मुद्दों का सरलीकृत बयान भर नहीं; बल्कि ज़्यादा गूढ़ मुद्दों को भी उसमें कहा जा सकता है। पीड़ित जनता और प्रशासन का संबंध तो लोग-बाग जानते हैं, पर इस परिदृश्य में बुद्धिजीवियों का चरित्र क्या है नाटक इसे दिखाता है।

असगर वज़ाहत स्थितियों के 'मेकेनिज्म' का परिहास की युक्ति के रूप में इस्तेमाल करते हैं। नाटक 'आग' का 'डॉक्टर पैसा' दहेज के लिए बहुओं को आग लगा कर मारने के धंधे का विशेषज्ञ है। उसके पास धंधे के कई पैकेज हैं। एक पैकेज में सिर्फ़ आग लगाना शामिल है, जबकि दूसरे में पुलिस कैस वगैरह से निपटने की भी गारंटी है। नाटक 'मोतियाबिंद' में धनी माँ-बाप और उनके द्वारा बिगाड़ी गई संतानों को दिखाया गया है। आंख के डॉक्टर के बेटे ने बगैर पढ़ाई का कष्ट उठाए ख़ुद को भी आंख का डॉक्टर घोषित कर दिया है, क्योंकि नेताओं और अभिनेताओं के बेटे भी ऐसा करते हैं। मरीज़ न मिलने पर वह माँ के समर्थन से अपने ही पिता का ऑपरेशन करके उन्हें अंधा कर देता है। नाटक 'सड़क पर' किंचित पुरानी काट का है, जब नाटकीयता की गरज से एक पगला किरदार भी डाला जाता था। नाटक में घायल पड़े इंसान के माध्यम से पुलिस, पत्रकार, सुविधाभोगी मध्यवर्ग वगैरह के चरित्र कहे गए हैं। नुक्कड़ नाटक के दो अन्य मूर्धन्य लेखकों गुरुशरण सिंह और सफ़दर हाशमी के बरक्स देखें तो असगर वजाहत के नाटक प्रत्यक्षतः कम राजनीतिक मालूम दे सकते हैं, पर अंततः राजनीतिक होना उनकी मजबूरी है। कारण है कि उनके नाटकों में भारतीय जीवन-तंत्र की विडंबनाएं बहुत तीखी होकर प्रस्तुत होती हैं।

पुस्तक में पच्चीस साल के अंतराल में लेखक द्वारा लिखी दो भूमिकाएं भी हैं, जिनमें तत्कालीन नाट्य परिदृश्य और नुक्कड़ नाटक की सैद्धांतिकी की चर्चा की गई है। उनके मुताबिक प्रोसीनियम के संभ्रांत दर्शकों की तुलना में साधारण लोगों की विधा होने के कारण नुक्कड़ नाटक में किसी 'शास्त्रीय समस्या' को पेश नहीं किया जा सकता। यहीं से यह समस्या भी खड़ी होती है कि दर्शकों को नुक्कड़ नाटक में रोका या बांधा कैसे जाये! 'टिकट लेकर आए दर्शक पांच दस मिनट बोर होने की सामर्थ्य रखते हैं, पर नुक्कड़ नाटक का दर्शक उखड़ते देर नहीं लगती।' इसी क्रम में वे नुक्कड़ नाटक में अभिनेता के काम को ज़्यादा जटिल मानते हैं, क्योंकि यहां न मंच है न ही सांकेतिकता। दिलचस्प यह भी है कि पहली भूमिका में नुक्कड़ नाटक को ऐसा 'छापामार युद्ध' जो 'किसी भूत परंपरा का ढांचा नहीं है' मानने वाले असगर दूसरी भूमिका में शिकायत करते हैं कि वह 'अपनी परंपरा अपनी जड़ों और अपने सौंदर्यबोध से रिश्ता नहीं जोड़ पाया।' वे नुक्कड़ नाटक समूहों में अब लगभग नियम की तरह अपना लिए गए एक जैसी वेशभूषा आदि तौर-तरीकों को हमारी संवेदना से दूर पश्चिमी प्रभाव मानते हैं। और सुझाव देते हैं कि नुक्कड़ नाटक का भविष्य उसके बहुआयामी होने में है।

सबसे सस्ता गोश्त : असगर वज़ाहत; राजपाल एंड संघ, 1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली

-संगम पांडेय

* सृजन के आसपास *

यशगामी यात्रा के शुभ चरण

हिंदी के समकालीन परिसर में कविता, कहानी, उपन्यास और अनुवाद की विधाओं में सृजन की लंबी लकीर खींचकर इन्हें गौरवशाली ढंग से समृद्ध करने वाले संतोष चौबे की षष्टिपूर्ति का यादगार आयोजन भोपाल और खंडवा में हुआ। अपनी परिकल्पना, शैली और व्याप्ति के हिसाब से यह अनूठा था। यह समारोह डॉ. चौबे की यशस्वी जीवन यात्रा के 60वें पड़ाव के साथ संगत बिठाते हुए साहित्य पर्व के बतौर आयोजित हुआ, सृजन और चिंतन की दुनिया में नया स्वर और नया संदेश छोड़ गया। वस्तुतः साहित्य, कला, शिक्षा और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में इतनी सारी चमकीली उपलब्धियों को अपने खाते में जमा कराने का अप्रतिम गौरव प्राप्त संतोष चौबे ने अपनी षष्ठिपूर्ति के दुर्लभ अवसर को साहित्य और कला को समर्पित कर दिया है।

पहला समारोह 'साहित्य पर्व' के नाम से अक्टूबर 22-26 को भोपाल में हुआ। इस आयोजन में नन्हें-मुन्ने बच्चों की सर्जनात्मक भागीदारी को भी विशेष महत्व मिला और जिसके वैचारिक कार्यक्रम में देश के साहित्याकाश के प्रकाशमान नक्षत्रों ने अपनी आत्मीय उपस्थिति दर्ज कराई हो, उसे आयोजन की परिकल्पना और परिणति की उत्कृष्टता का सहज ही महसूस किया गया। साहित्य पर्व का यह एक विरल गैर सरकारी कार्यक्रम था, जिसके साथ 50 से अधिक साहित्य, कला, शिक्षा, पत्रकारिता आदि क्षेत्रों से जुड़ी नामचीन संस्थाओं ने सहभागिता की और आयोजन को नये आयाम दिये। वनमाली सृजनपीठ के समन्वयक और मुख्य संयोजक विनय उपाध्याय ने अपने सहयोगी मोहन सगोरिया, प्रशांत सोनी और अरुणेश शुक्ल आदि के साथ मिलकर हर कार्यक्रम को उसकी उत्कृष्टता तक पहुंचाने का उल्लेखनीय काम किया। कथाकार मुकेश वर्मा की सक्रिय भागीदारी हर कार्यक्रम में परिलक्षित हुई।

चहक उठा 'अम्मा का रेडियो!'

भोपाल का अंतर्राष्ट्रीय कला केन्द्र भारत भवन का प्रांगण। संध्या बेला। पार्श्व में शाम की लालिमा बड़े तालाब की जलराशि पर बिखेरने के बाद सूर्य अस्त हो चुका था। प्रख्यात कथाकार चित्र मुद्गल, ममता कालिया और कविवर नरेश सक्सेना की उपस्थिति में दीप प्रज्जवलन और संतोष चौबे की बहुचर्चित लंबी कविता 'अम्मा का रेडियो के बहाने' 'अम्मा' के स्मरण के साथ षष्ठिपूर्ति समारोह के निमित्त त्रिदिवसीय साहित्य पर्व का करतलध्वनि एवं हर्षध्वनि के बीच शुभारंभ हुआ। इसी प्रांगण में इस कविता के आधार पर नन्हें-मुन्ने चित्रकारों द्वारा विविध कल्पनाओं, रेखाओं और रंगों के सम्मिश्रण से सृजित 56 सुन्दर चित्रों की प्रदर्शनी भी लगाई गई थी, जिसका बड़ों और छोटों, सबने कौतूहल और प्रशंसा भाव से अवलोकन कर बाल चित्रकारों में विद्यमान प्रतिभा को मुक्तकंठ से सराहा और वनमाली सृजन पीठ के इस अनूठे उपक्रम की प्रशंसा की। बाल चित्रकारों ने अपनी, कलाकृतियों के माध्यम से चौबेजी को रंग-बिरंगी शुभेच्छाएं दीं। इस अवसर पर वनमाली सृजन पीठ की ओर से बाल चित्रकारों को

पुरस्कृत किया। चौबे सबके साथ घुल मिलकर षष्ठिपूर्ति पर स्नेहियों की बधाइयां और शुभकामनाएं ग्रहण कर रहे थे। कहीं कोई औपचारिकता नहीं थी। प्रथम दिन के कार्यक्रम की श्रृंखला का बहुआयामी मुख्य कार्यक्रम भारत भवन के बहिरंग प्रांगण के मुक्ताकाश मंच पर प्रख्यात आलोचक डॉ. धनंजय वर्मा की गरिमापूर्ण अध्यक्षता और विनय उपाध्याय के संचालन-संयोजन में संपन्न हुआ। रंग-बिरंगी रोशनी के बीच बहिरंग की हरीतिमा से ओतप्रोत दरख्तों की गोद में अविस्मरणीय सम्मान सत्र का सिलसिला चला। भारत भवन परिसर की तलहटी को छूती बड़े तालाब की जलराशि की शांत अठखेलियां रोशनी की प्रतिछाया के साथ संगत करते हुए आयोजन को नई ऊंचाई दे रही थीं।

विशाल मुक्ताकाश मंच पर संतोष चौबे और उनकी जीवन संगिनी विनीता चौबे के साथ डॉ. धनंजय वर्मा, चित्रा मुद्गल, ममता कालिया, नरेश सक्सेना, लीलाधर मंडलोई, विष्णु नागर और मुकेश वर्मा विराजमान थे। इससे पूर्व विहान कला समूह के कलाकार गीति नाट्य की सुन्दर प्रस्तुतियां देकर कार्यक्रम के लिए कलात्मक वातावरण का निर्माण कर चुके थे। बेबी तनिष्का ने बड़ी उम्र के कलाकारों के साथ नृत्य एवं अभिनय की प्रस्तुतियों में जो हिस्सेदारी की, वह खूब सराही गई। मंचासीन शख्सियतों का आयोजन समूह की ओर से मुकेश वर्मा, महेन्द्र गगन, मोहन सगोरिया और विनय उपाध्याय ने पुष्पगुच्छ से स्वागत किया। तत्पश्चात्, साहित्य कला, पत्रकारिता आदि क्षेत्रों से जुड़ीं छह दर्जन संस्थाओं एवं बड़ी संख्या में डॉ. चौबे की जन्म स्थली खंडवा से भी आत्मीय प्रतिनिधियों ने उनका सम्मान कर बधाई दी। अभिनव कला परिषद् की ओर से प्रख्यात छायाकार कमलेश जैमिनी ने चौबे के शीश पर मालवा की परंपरा के अनुसार रंग-बिरंगा साफा बांधकर पारंपरिक रूप से उनका सम्मान कर शुभकामनाएं दीं।

नवाचार में सुख मिलता है

संतोष चौबे ने आभार प्रकट करते हुए इतना ही कहा- 'मैंने कविता लिखने के साथ अपनी सृजन यात्रा प्रारंभ की थी। बाद में कहानी, उपन्यास और अनुवाद के क्षेत्र में उतरा। मित्रगण लेखन की प्रशंसा कर उत्साह बढ़ाते गए और मैं श्रेष्ठ से श्रेयस्कर काम करता चला गया। मुझे पिता वनमालीजी से काफी प्रेरणा मिली है। मैं ऐसा मानता हूँ

सुकरात का मंचन

कि एक रचनाकार को बहुत सी विधाओं में आना-जाना चाहिए। मुझे साहित्य अजीब किस्म का प्रकाश देता है। साहित्य ही है, जिसने मुझे जीवित रखा और बहुत सी कठिनाइयों से बचाया है। मुझे नवाचार में बड़ा सुख मिलता है। चुनौतियां मेरी सामर्थ्य को बढ़ाती हैं। आनंद मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। कथा के क्षेत्र में वनमाली जी और विज्ञान के क्षेत्र में कलाम साहब मेरे गुरू रहे हैं।'

जन्म भूमि (खंडवा) में अभिनंदन

संतोष चौबे के षष्टिपूर्ति प्रसंग पर आयोजित सृजन पर्व पर जब खंडवावासियों ने उनका भावभीना सारस्वत अभिनंदन किया तो माहौल भावुक हो गया। वनमाली सृजनपीठ के संयोजन में आयोजित इस दो दिवसीय सृजन पर्व का पहला दिन अभिनंदन और 'कविता यात्रा' के नाम रहा तो दूसरे दिन शब्द रंग और चित्र की अनोखी जुगलबंदी ने खंडवावासियों का मन मोह लिया।

सृजन पर्व का आगाज 6 फरवरी को चौबे के साहित्य-सांस्कृतिक विहंगम की छाया-छवियों 'बिंब-प्रतिबिंब' से हुआ। आईसेक्ट स्टूडियो (भोपाल) द्वारा निर्मित लघुफिल्म 'संतोष चौबे-एक यात्रा' का प्रदर्शन भी किया गया। सारस्वत अभिनंदन समारोह की अध्यक्षता ललित निबंधकार डॉ. श्रीराम परिहार ने की। उन्होंने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में

प्रख्यात कथाकार चित्रा मुद्गल तथा अन्य लेखक-आलोचकों की गरिमामय उपस्थिति

खंडवा में कविता पोस्टर प्रदर्शनी का शुभारंभ करते हुए शायर डॉ. सफ़दर रज़ा खंडवी और संतोष चौबे

चौबे के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि संतोष चौबे हमेशा ही वैज्ञानिक अवधारणा को लेकर कार्य करते रहे हैं। उनका संकल्प विज्ञान को जन-जन तक ले जाना है।

कवि मित्र बलराम गुमास्ता ने कहा कि चौबे में कार्य करने की और समय को पकड़ने की अद्‌भुत इच्छा शक्ति है। आज जो कुछ भी है यह सब उसी का प्रतिफल है। कोटा राजस्थान से आई संतोषजी की बहन डॉ. संध्या चतुर्वेदी ने संस्मरण सुनाते हुए कहा कि तकनीक, कला, साहित्य का समागम ही संतोष है। कथाकार मुकेश वर्मा ने कहा कि संतोष चौबे के पास कुशल समय-प्रबंधन है। दूसरा उनके पास वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। कथाकार रमाकांत ने कहा कि उनकी वैज्ञानिक चेतना और साहित्यिक संसार का फलक बहुत व्यापक है। समय की आहट को समझने की अद्‌भुत क्षमता है। गजलकार जहीर कुरैशी ने कहा कि संतोष जी की कविताओं में संसार की वे तमाम चीजें हैं तो मनुष्य जो मनुष्य बनाती हैं। वनमालीजी के शिष्य डॉ. शिशिर मुखर्जी ने भी अपने भावभीने संस्मरण सुनाए।

पुनरावलोकन का अवसर

इस मौके पर संतोष चौबे ने कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा कि उन्होंने जिज्ञासा, संतुलन, धनात्मकता, जिद और व्यवस्थित ज्ञान को जीवन में आगे बढ़ने की सीढ़ी बताया। जीवन एक सरल रेखा या वृत्त नहीं है। वह स्पाइरल है। इसलिए जीवन में स्पाइरल ग्रोथ होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि 60 हमारी परंपरा में एक पुनरावलोकन का बिन्दु है।

इस मौके पर 'कविता यात्रा' की दृश्य-श्रव्य प्रस्तुति शैडो ग्रुप द्वारा नाट्य निर्देशक मनोज नायर के निर्देशन में हुई। इसमें सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, केदारनाथ सिंह, पाश, नागार्जुन जैसे कवियों की रचनाओं की संगीतबद्ध प्रस्तुति दी गई। ये कविता यात्रा कविता के पिछले 70 वर्षों की यात्रा तो है ही, कविता के बहाने देश के 70 वर्षों की यात्रा पर एक नजर भी है। ये यात्रा कवियों के आत्म संघर्ष की तलाश है, उनकी कविता के मुहावरे, शब्द और कहन की तलाश है। और सबसे अधिक कविता की आंतरिक लय की तलाश है। संगीत निर्देशन संतोष कौशिक और परिकल्पना और आलेख संतोष चौबे का रहा। समारोह का संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया।

सृजन पर्व के दूसरे दिन 7 फरवरी को 'कविता की सुबह - शब्द, रंग, और रेखाएं' में चित्रकार बैजनाथ सराफ और शबनम शाह द्वारा संतोष चौबे की कविताओं पर केंद्रित पोस्टर प्रदर्शनी आयोजित की गई। दोपहर के सत्र में डॉ. सफदर रजा खंडवी की अध्यक्षता में आमंत्रित रचनाकारों जहीर कुरैशी, बलराम गुमास्ता, अशोक वाजपेयी, श्रीकांत साकल्ले, अशोक गीते, विनय उपाध्याय, मोहन सगोरिया, वसंत सकरगाए, सूफियाना काजी, प्रदीप जिलवाने, अर्चना भैसारे, शैलेन्द्र शरण ने कविता पाठ किया। संचालन कवि बलराम गुमास्ता ने किया। इस सत्र में संतोष चौबे के काव्य पाठ के दौरान चित्रकार बैजनाथ सराफ द्वारा उनकी कविताओं पर सजीव चित्रण आकर्षण का केन्द्र बिन्दु रहा। इस दौरान संतोष चौबे ने सुई, एकांत, चिकित्सक, पर्यावरण दिवस, बैठकबाज, क्रांतिकारी, वृत्त आदि कविताओं का पाठ किया। जिस पर रंगों और रेखाओं के माध्यम से श्री सराफ द्वारा बिंबों की रचना की गई। शाम को संतोष चौबे की कविताओं की सदृश्य सांगीतिक प्रस्तुति 'थोड़ा सा एकांत' संतोष कौशिक द्वारा दी गई। शेडो ग्रुप द्वारा बर्तोल्त ब्रेख्त द्वारा लिखित एवं संतोष चौबे द्वारा अनुवादित नाटक 'सुकरात' का मनोज नायर के निर्देशन में मंचन किया गया।

इस पूरे आयोजन में वनमाली सृजनपीठ के अलावा नटनिमाड़ कला समूह, सुरभि साहित्य सांस्कृतिक न्यास, हिन्दुस्तान अभिकरण, आईसेक्ट विश्वविद्यालय, डॉ. सी.वी. रमन विश्वविद्यालय, रेडियो रमन 90.4 एफएम., आईसेक्ट स्टूडियो, स्कोप कॉलेज आफ इंजीनियरिंग, रंग संवाद, इलेक्ट्रॉनिकी, गुंजन सांस्कृतिक संस्था, किशोर प्रेरणा मंच, अक्षत, लायंस क्लब, लायंस ग्रेटर, रोटरी क्लब, जेसीज क्लब, झरोखा 65-66, झरना, हिन्दू बाल सेवा सदन, श्री अरविन्दो सोसाईटी, रंगाकृति कला समूह, म.प्र. लेखक संघ, एवं म.प्र. हिन्दी साहित्य सम्मेलन का विशेष सहयोग रहा।

रपट : युगेश शर्मा और विक्रांत भट्ट

हिन्दी के जरिये भारत और खुद को जाना

वनमाली, विहान और कला समय परिवार के बीच हंगरी के हिन्दी प्रेमी पीटर

'हिन्दी मेरे लिए केवल एक भाषा न होकर खुद को जानने का माध्यम बन गई है। शुरुआत एक विदेशी भाषा सीखने को लेकर हुई पर अब धीरे-धीरे हिन्दी ने मुझे भारत, यहाँ की संस्कृति, लोक कलाओं, संगीत और लोगों के जरिये जीने का वो खजाना दिया है जिसने एक व्यक्ति के बतौर मुझे समृद्ध किया है। इस भाषा ने मुझे जो दिया है उसे भविष्य में मैं हिन्दी जानने के इच्छुक छात्रों को दे सकूँगा, ये उम्मीद मैं खुद से करता हूँ।

हंगरी से आए और पिछले 8 सालों से भारत में रहकर हिन्दी साहित्य में शोध कर रहे पीटर शागि ने यह बात वनमाली सृजन पीठ व सांस्कृतिक संस्था कला समय की सहभागिता में 'विहान' द्वारा आयोजित अतिथि विद्वानों की व्याख्यान श्रृंखला 'थ्योरिक्स' में कही। हिन्दी में किए अपने शोध कार्यों, हिन्दी से लगाव और अनुभव विषय पर बात करते हुए पीटर ने वर्तमान हिन्दी साहित्य में सामाजिक व राजनीतिक हालात, लैटिन, अरबी, संस्कृति से प्रेम, अपने विदेशी भाषा सीखने की चाह तथा वर्तमान समय में यूरोप और अन्य महाद्वीपों में भारत तथा हिन्दी की लोकप्रियता आदि बिन्दुओं को रखते हुए अपने हिन्दी प्रेम को साझा किया। उपस्थित श्रोताओं के लिए पीटर को धारा प्रवाह हिन्दी बोलते हुए देखना/सुनना सुखद अनुभव रहा। कथाकार व स्तंभकार डॉ. रेखा कस्तवार के मुख्य आतिथ्य में सम्पन्न हुए इस आत्मीय आयोजन के पहले सत्र में 'विहान' के कलाकारों ने संगीतकार व अभिनेता हेमंत देवलेकर के निर्देशन व संयोजन में 'विहान संगीत' के कुल 6 गीतों की प्रस्तुति दी, जिनमें 'विहान' के नाटकों के अलावा नर्मदा व ताप्ती नदी पर बनाए गीतों को सुनना उपस्थित श्रोताओं के लिए अद्भुत अनुभव रहा।

अपने उद्बोधन में डॉ. रेखा कस्तवार ने पीटर के भारतीय मनोविज्ञान व सामाजिक स्थितियों की पड़ताल करते हुए उनके हिन्दी के प्रति सम्मान व प्रेम को प्रेरणास्पद बताया। कला समय और वनमाली सृजन पीठ की ओर से विनय उपाध्याय ने पीटर का स्वागत करते हुए उन्हें सम्मानित भी किया। युवा लेखक सुदीप सोहनी ने कार्यक्रम का संचालन किया। आभार रंग निर्देशक सौरभ अनंत ने माना। इस अवसर पर सांस्कृतिक संस्था 'कला समय' के सचिव भंवरलाल श्रीवास ने अतिथियों का स्वागत किया।

'वीफा' ने बिखेरे उत्सव के रंग

उत्सव के देश भारत में जीवन को सबसे बड़ा उत्सव माना गया है। कलाएं जीवन के इसी उत्सव को आलंकारिक बनाती हैं। आज के समय में जब जीवन पर ही संकट हो तो इस चिंता के लिए कलाओं से बेहतर साथ भला और क्या मिलेगा? इसलिए विश्व में हो रहे पर्यावरण चिंता विमर्शों और आयोजनों को लेकर संयुक्त राष्ट्र ने 'आर्टकॉप21' नामक पहल की शुरुआत की और कला को इस चिंता में शामिल किया। पर्यावरण चिंता पर संयुक्त राष्ट्र की इस पहल का भारत में प्रतिनिधित्व किया भोपाल की कला संस्था 'विहान' ने। चार दिनों के सुबह-शाम के कुल 10 सत्रों में कविता, नाटक, पूर्व रंग, रंग संगीत, सिनेमा, छायाचित्र प्रदर्शनी, थिएटर टॉक, दर्शन, आध्यात्म और विचार के महत्त्वपूर्ण सत्रों में देश-विदेश के कलाकार सम्मिलित हुए। वैश्विक आयोजनों की इस कड़ी के संभवत: सबसे बड़े आयोजन की रूपरेखा बनाते हुए दिसंबर की 15 से 18 तारीख के मध्य ख्यात कला केंद्र भारत भवन में विहान अंतर्राष्ट्रीय कला महोत्सव (वीफा 2015) का आयोजन 'विहान' की सफलता की कहानी कहता है।

'विहान' की इन कोशिशों को साथ मिला देश के प्रमुख समाचार पत्र दैनिक भास्कर का जिसने जलवायु परिवर्तन पर केन्द्रित छायाचित्र प्रदर्शनी को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त इस आयोजन को प्रमुखता से अपने अखबार में प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त देश की शिक्षा जगत के महत्त्वपूर्ण संस्थान आइसेक्ट विश्वविद्यालय, कला जगत की विश्वव्यापी संस्था रज़ा फाउंडेशन (दिल्ली) व मध्य प्रदेश पर्यटन विकास निगम, सांस्कृतिक पत्रिका 'कला समय' के सहयोग से 'वीफा' के इस चार दिवसीय आयोजन को उत्सवधर्मिता के नए आयाम मिले। अमेरिका के तीन सांस्कृतिक संगठन थिएटर विदाउट बॉर्डर्स, द आर्कटिक साइकल और नो पासपोर्ट ने मिलकर 'क्लाइमेट चेंज थिएटर एक्शन' के नाम से जो आयोजन रचे उनमें 'विहान' ने प्रमुखता से भारत का प्रतिनिधित्व किया।

भोपाल (नरेला) के विधायक विश्वास सारंग, रंगमंच और सिनेमा के सिद्धहस्त अभिनेता, गायक रघुबीर यादव, आइसेक्ट व सी.वी। रमन विश्वविद्यालय के कुलाधिपति, ख्यात साहित्यकार संतोष चौबे, दैनिक भास्कर के सीनियर वाइस प्रेसिडेंट विनय माहेश्वरी, भारतीय जनता पार्टी के वरिष्ठ नेता तपन भौमिक, महिला नेत्री पूजा के मिश्रा तथा सुखप्रीत कौर, मध्य प्रदेश राज्य नाट्य विद्यालय के निदेशक और देश के महत्त्वपूर्ण रंगकर्मी संजय उपाध्याय तथा युवा अभिनेता, लेखक, निर्देशक मानव कौल की उपस्थिती में दीप प्रज्जवलन के साथ ही आयोजन का आगाज़ हुआ। इसके तुरंत बाद सभी अतिथियों व कला प्रेमियों ने पर्यावरण चिंता पर आधारित छायाचित्र प्रदर्शनी का उद्घाटन व अवलोकन किया।

संतोष चौबे ने पर्यावरण की चिंता करते हुए जीवन और तकनीक के संतुलन व कलाओं के ज़रिये जागरूकता के महत्त्व को रेखांकित किया। इस अवसर पर भोपाल से प्रकाशित बहुचर्चित सांस्कृतिक पत्रिका 'कला समय' के वीफा विशेषांक का विमोचन पत्रिका के संपादक व ख्यात कला समीक्षक श्री विनय उपाध्याय की उपस्थिती में अतिथियों ने किया।

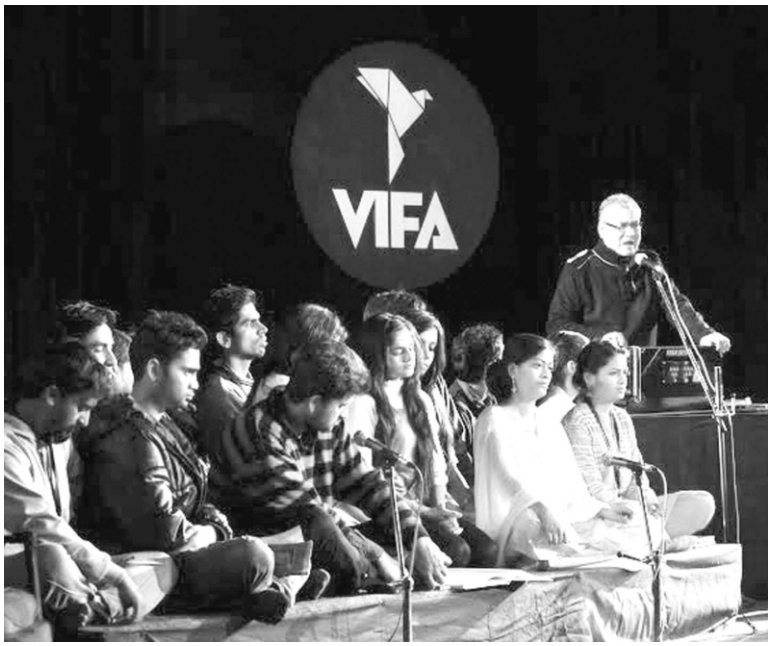

इसके बाद बारी थी माहौल के संगीतमय होने की। प्रखर अभिनेता और ओजस्वी गायक श्री रघुबीर यादव व ख्यात रंग निर्देशक संजय उपाध्याय मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय के 25 कलाकारों के साथ मंच पर आए। शुरुआत रघुवीर यादव ने की और एक के बाद एक ढोलक, मंजीरे और हारमोनियम की चढ़त-बढ़त के साथ अपने मदमाते कंठ की रवेदार अंदाज़ में लोक, विरह, भजन जैसी शैली में गीत प्रस्तुत किए।

शाम 6 बजे के आसपास दर्शकों की भीड़ उत्साह से 'पूर्वरंग' प्रस्तुति को सुनने आई। मानव कौल ने दर्शकों से भरे अंतरंग सभागार में अपने समूह के अभिनेता घनश्याम लालसा के साथ मंच पर प्रस्तुत हो कर एक नए अंदाज़ में अपने लिखे नाटकों के बनने की प्रक्रिया साझा करते हुए उनमें प्रयुक्त कविताओं का पाठ किया। गज़ब के अनुशासन और धैर्य तथा सुगंभीर पाठ के दौरान मानव व घनश्याम ने 'शक्कर के पाँच दाने', 'इल्हाम', 'मुमताज भाई पतंग वाले', 'पार्क' जैसे नाटकों की कवितायें साझा कीं। इस अवसर पर देश के ख्यात अभिनेता आलोक चटर्जी, स्विट्जरलैंड की अभिनेत्री लिया हैसलर, और 'विहान' के संस्थापकों सौरभ अनंत व सुदीप सोहनी के साथ दोनों ने 'वीफा' के अवसर पर प्रकाशित 'विहान' की खास वार्षिक पत्रिका 'विहानम' के अंग्रेजी अंक का विमोचन किया। 'पूर्वरंग' की समाप्ति के साथ ही पार्श्व से विनय उपाध्याय की धीर-गंभीर आवाज़ ने अकरम फिरोज और लिया हैसलर लिखित-अभिनीत-निर्देशित अँग्रेजी प्रस्तुति 'द लोन कॉन्क्वरर' के प्रदर्शन की उद्घोषणा की।

उत्सव के दूसरे दिन सुबह फिल्म प्रदर्शन व निर्देशक से बातचीत के सत्र में सन 2014 के राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार से सम्मानित डॉक्यूमेंट्री फिल्म 'कपिला' तथा दिल्ली अंतर्राष्ट्रीय फिल्म उत्सव में सराही गई बालिका शिक्षा पर आधारित लघु फिल्म '10:30 स्कूल चलें' का प्रदर्शन हुआ। शाम 6 बजे जब जाड़े का कुहासा अंगड़ाई लेते सूरज के साथ गलबाहें कर रहा था तब अंतरंग शाला के बाहर 'पूर्वरंग' सत्र में हिमाचली पहाड़ी संगीत की पुरनम बयार रसिकों को मंत्रमुग्ध करने पर आमादा थी। शिमला से 'प्रोजेक्ट ए२' दल के कलाकार अंशुल कपूर और अंकित भोला ने गिटार, डिजरीडू, जेम्बे और अन्य पश्चिमी वाद्यों पर ठेठ हिमाचली पारंपरिक गीत-संगीत का वो रंग बिखेरा जिसे भारत भवन पहुंचे दर्शकों ने आत्मीयता से सहेजा। विशेष अतिथि बतौर देश के रंगजगत और सिनेमा के ख्यात अभिनेता मोहन अगाशे मौजूद थे। ख्यात लेखिका अमृता प्रीतम की कालजयी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' के नाट्य रूपान्तरण 'अमृता' का मंचन 'वीफा 2015' के मुख्य आकर्षणों में से एक था। सुदीप सोहनी के निर्देशन व नितेश मांगरोले के संगीत निर्देशन में यह भोपाल में इस नाटक की पहली प्रस्तुति थी। सधे हुए संवाद, मधुर संगीत, भावाभिनय के रोमांच, नज़्मों-कविताओं के मोहक सम्प्रेषण और अमृता-साहिर-इमरोज को मंच पर साकार करती डेढ़ घंटे की इस प्रस्तुति को दर्शकों ने अद्भुत अनुशासन और लगभग 'पिन-ड्रॉप साइलेंस' के साथ भीतर तक सहेजा। अमृता (श्वेता केतकर), साहिर (हेमंत देवलेकर) व इमरोज़ (अंकित पारोचे) के किरदारों ने मंच पर वो जादू बिखेरा जिसे हर आँख ने भरपूर निहारा। एकता गोस्वामी सोहनी और निवेदिता सोनी की रूपसज्जा ने किरदारों की छवि को जीवंत किया है। सौरभ अनंत की मंच व प्रकाश परिकल्पना ने नाटक की पृष्ठभूमि को नयी छवियों से युक्त किया।

उत्सव के तीसरे दिन सुबह के सत्र की शुरुआत आध्यात्मिक हुई। कोलकाता (पश्चिम बंगाल) से पधारे शुभब्रत सेन ने नीताई गुरु, टैगोर आदि के कई पारंपरिक गीत सुनाये। वरिष्ठ अभिनेता मोहन अगाशे ने अगले सत्र के सूत्र संभाले। अगाशे ने प्रोजेक्टर के माध्यम से जर्मनी में बच्चों के लिए विशेष तौर पर बने 'ग्रिप्स थिएटर' की अवधारणा व कई नाटकों की क्लिपिंग्स दर्शकों से साझा की। शाम को अंतरंग शाला में महामात्य वत्सराज द्वारा एक हजार साल पहले लिखे संस्कृत प्रहसन 'हास्यचूड़ामणि' की सौरभ अनंत निर्देशित बुन्देली प्रस्तुति के मंचन का आस्वाद करने दर्शक आए थे। यह इसी नाटक की भोपाल में इसी वर्ष की चौथी प्रस्तुति थी ठेठ बुन्देली संवाद, लोक शैली, गीत-संगीत के जबर्दस्त प्रभाव और अभिनेताओं के द्वारा खेले जाने वाली इस प्रस्तुति में मंच और मंच परे कुल 40 कलाकार हिस्सेदारी कर रहे थे।

समारोह के चौथे दिन 18 दिसंबर को स्कोप कॉलेज परिसर में श्री विवेक जी का विशेष उद्बोधन सत्र हुआ। खचाखच भरे सभागार में स्कोप कॉलेज के प्रबंधन, प्राचार्य, शिक्षकों, विद्यार्थियों की उपस्थिति में विवेकजी ने 'कला, युवा तथा समाज' विषय पर अपने विचार रखे। युवा दार्शनिक एवं चिंतक तथा 'आनंद ही आनंद फाउंडेशन, नागपुर' के संस्थापक विवेक जी ने अपना ओजस्वी वक्तव्य दिया। विद्यार्थियों और शिक्षकों के सवालों के उत्तर भी दिये। तत्पश्चात आईसेक्ट के कुलाधिपति संतोष चौबे ने विवेक जी का आभार प्रकट करते हुए उन्हें पुन: पधारने का आमन्त्रण दिया।

रपट : विशाखा राजुरकर

'एक थी मैना, एक था कुम्हार'

भूमंडलीकरण के इस दौर में ग्रामीण जीवन और परिवेश का धरातल काफी हद तक प्रभावित हुआ है और इसी बदलते दौर तथा हालातों को किस्सागोई तथा फैंटेसी के जरिये कथाकार हरि भटनागर ने बड़ी ही सहजता से अपने उपन्यास में दर्ज किया है। देशज ठाठ लिए उपन्यास 'एक थी मैना एक था कुम्हार' अपने समय का एक जरूरी विवरण प्रस्तुत करता है।

इस आशय के विचार वनमाली सृजन पीठ द्वारा स्वराज संस्थान भोपाल में आयोजित समीक्षा गोष्ठी में विभिन्न वक्ताओं ने व्यक्त किये। कथाकार हरि भटनागर के हाल ही में प्रकाशित एवं चर्चित उपन्यास 'एक थी मैना एक था कुम्हार' को केन्द्र में रखते हुए विख्यात कथाकार-नाटककार असगर वजाहत ने कहा कि यह उपन्यास समाज के वर्गीय सच को सामने लाता है और यथार्थ तथा फैंटेसी के दो धरातलों पर चलता है।

गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए कथाकार-आलोचक संतोष चौबे ने कहा कि पूरा उपन्यास अपनी रचना में पठनीय, सुंदर व असरदार बन पड़ा है। श्री चौबे ने भी फैंटेसी को टूल के रूप में रेखांकित करते हुए कहा कि इस दृष्टि में हरि अपने कथात्मक कौशल का बेहतर ताना-बाना बुनते नजर आते हैं। युवा आलोचक आशीष त्रिपाठी ने हरि के उपन्यास को पारम्परिक किस्सागोई लोककथा और आख्यान का अद्‌भुत मेल बताया।

व्यंग्यकार ज्ञान चतुर्वेदी ने भटनागर के उपन्यास पर अपनी तर्क संगत टिप्पणी की। संचालन वरिष्ठ कथाकार मुकेश वर्मा ने किया। आभार प्रदर्शन वनमाली सृजनपीठ के संयोजक विनय उपाध्याय ने किया।

लोकार्पण : कल्लन चतुर्वेदी

युवा कथाकार शायान कुरैशी के कहानी संग्रह 'कल्लन चतुर्वेदी' का लोकार्पण स्वराज संस्थान, भोपाल में किया गया। इस अवसर पर उर्दू के जाने-माने साहित्यकार प्रो. आफ़ाक अहमद, सहित कवि राजेश जोशी, कथाकार मंज़ूर एहतेशाम, संतोष चौबे, मुकेश वर्मा और आलोचक रामप्रकाश मौजूद थे।

साँची में 'गजमोक्ष'

पिछले दिनों साँची में आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी द्वारा आयोजित 'महाबोधि महोत्सव' के शुभारम्भ दिवस पर नाटक 'गजमोक्ष' का मंचन किया गया। गजमोक्ष नाटक तथागत बुद्ध की जातक कथा पर एकाग्र है, जिसका मंचन शहर के वरिष्ठ रंगकर्मी के.जी. त्रिवेदी के निर्देशन में साँची में हुआ था। इस नाटक का लेखन एवं गीत रचना सुनील मिश्र ने की है। यह नाटक एक लालची मनुष्य एवं हाथी की मैत्री एवं उससे एक ऐसे सन्देश पर एकाग्र है, जो मनुष्य को पुरुषार्थ की प्रेरणा देता है तथा उसकी उन प्रवृत्तियों की ओर कटाक्ष करता है, जिसमें बिना परिश्रम और ईमानदारी के वह सब कुछ हासिल करना चाहता है। इसके लिए वह अपनी नीयत को भी खोटा करने से भी नहीं चूकते। इस नाटक की संगीत रचना रंगसंगीत के वरिष्ठ कलाकार श्री सुरेन्द्र वानखेड़े ने की है। नाटक में लगभग 60 कलाकारों ने मंच पर तथा नेपथ्य में काम किया है।

बांदा में कविता और चित्र

जनवादी लेखक संघ बांदा के तत्वाधान में संवाद गोष्ठियों की श्रृंखला के अन्तर्गत कालिंजर में कविता पाठ व गोष्ठियों का आयोजन हुआ। रायपुर से आए वरिष्ठ चित्रकार कुँअर रवीन्द्र के चित्रों की प्रदर्शनी का उद्‌घाटन बुन्देलखंड के जलपुरुष पर्यावरणविद पुष्पेन्द्र भाई ने किया। रवीन्द्र के चित्रों का मूल विषय था 'समकालीन कविता में लोक'। इस विषय के तहत उन्होंने वैचारिक रूप से बुनियादी बदलावों व लोक की जमीनी कठिनाईयों की अभिव्यक्ति करने वाली समकालीन कविताओं पर चित्र बनाए थे जिन्हें डीसीडीएफ हाल में प्रदर्शित किया गया। इन चित्रों की खास बात ये रही कि ये कविताएँ आज की पीढ़ी की थीं। भूमंडलीकरण व उदारलोकतंत्र के खतरनाक प्रभावों की भुक्तभोगी पीढ़ी की कविताओं पर उकेरे गए चित्र थे। उद्‌घाटन कर्ता पुष्पेन्द्र भाई ने कहा कि यदि हम बदलाव चाहते हैं तो हमें अन्तिम जन को अपनी रचनाधर्मिता में जगह देनी होगी। संवाद गोष्ठी के दूसरे सत्र में वरिष्ठ कवि एवं सम्पादक सुधीर सक्सेना जी के नये कविता संग्रह 'कुछ भी नहीं है अन्तिम' का लोकार्ण हुआ। इस संग्रह में उनकी नयी कविताएँ संग्रहीत हैं। इस संग्रह में जीवन के वैविध्यपूर्ण आयामों को जनदृष्टि से परखा गया है। लोकार्पण जनपद बांदा के लोकप्रिय प्रगतिशील किसान प्रेम सिंह ने किया। सुधीर सक्सेना जी ने इस संग्रह की कई कविताओं का पाठ किया।

किशन कालजयी को बृजलाल द्विवेदी सम्मान

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता को सम्मानित किए जाने के लिए दिया जाने वाला पं. बृजलाल द्विवेदी अखिल भारतीय साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान 'संवेद' (दिल्ली) के संपादक किशन कालजयी को प्रदान किया गया। कालजयी, साहित्यिक पत्रकारिता के एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर होने के साथ-साथ देश के जाने-माने संपादक एवं लेखक हैं। भोपाल के गांधी भवन में आयोजित एक गरिमामय समारोह में उन्हें यह सम्मान माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. बृज किशोर

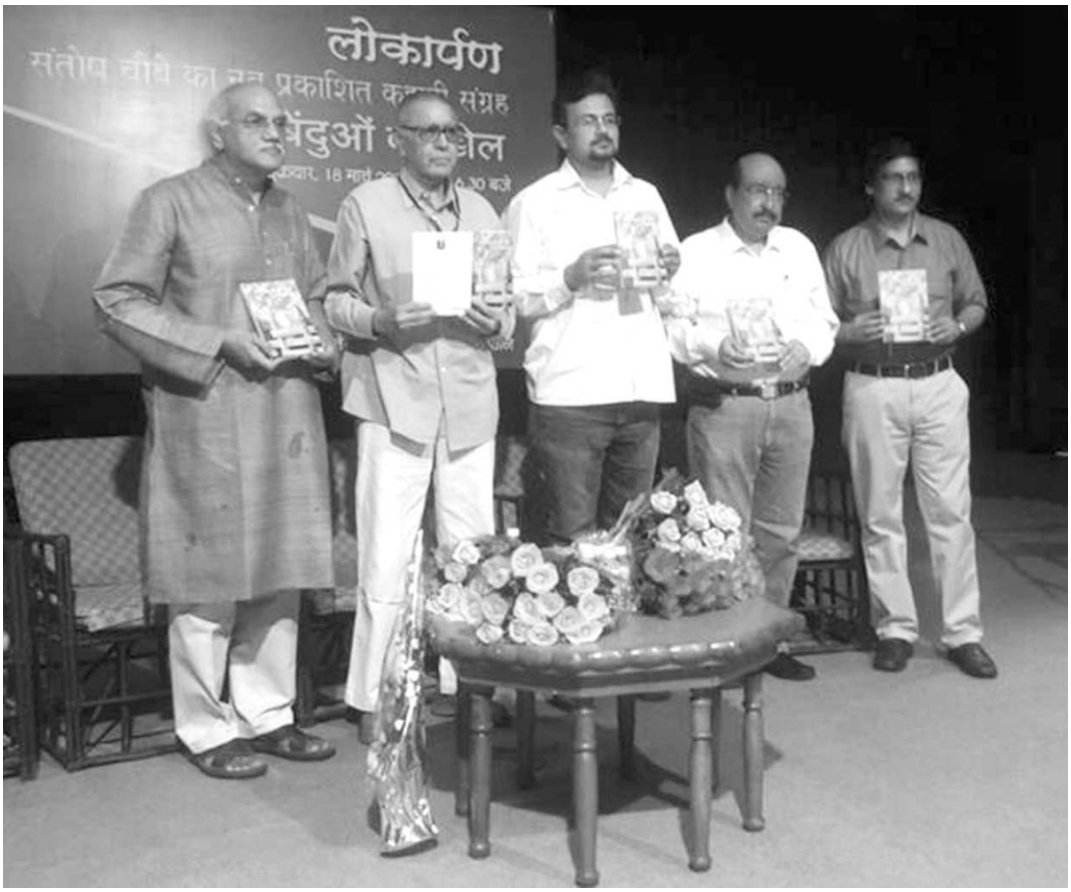

संतोष चौबे के नव प्रकाशित कहानी संग्रह 'नौ बिंदुओं का खेल' का लोकार्पण भारत भवन (भोपाल) में समारोह पूर्वक किया गया। चित्र में (बांये से) लेखक संतोष चौबे, मूर्धन्य नाटककार कवि और आलोचक नंदकिशोर आचार्य, युवा आलोचक वैभव सिंह, पहले-पहल प्रकाशन के संचालक महेन्द्र गगन तथा कला समीक्षक विनय उपाध्याय।

कुठियाला तथा शिक्षाविद् और समाज सेवी संकठा प्रसाद सिंह ने भेंट किया। साहित्यकार गिरीश पंकज, लेखिका इंदिरा दांगी, हरिभूमि के प्रबंध संपादक डॉ. हिमांशु द्विवेदी विशेष रूप से उपस्थित थे।

मीडिया विमर्श के संपादक संजय द्विवेदी ने समारोह का सुचारू संयोजन किया। इसके पूर्व यह सम्मान वीणा (इंदौर) के संपादक स्व. श्यामसुंदर व्यास, दस्तावेज (गोरखपुर) के संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, कथादेश (दिल्ली) के संपादक हरिनारायण, अक्सर (जयपुर) के संपादक डॉ. हेतु भारद्वाज, सद्भावना दर्पण (रायपुर) के संपादक गिरीश पंकज, व्यंग्य यात्रा (दिल्ली) के संपादक डॉ. प्रेम जनमेजय और कला समय (भोपाल) के संपादक विनय उपाध्याय को दिया जा चुका है। त्रैमासिक पत्रिका 'मीडिया विमर्श' द्वारा प्रारंभ किए गए इस अखिल भारतीय सम्मान के तहत साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान करने वाले संपादक को ग्यारह हजार रुपए, शाल, श्रीफल, प्रतीक चिन्ह और सम्मान पत्र से अलंकृत किया जाता है।

कव्वाली महोत्सव

सूफियाना पैगाम से महकती पेशकश के बीच भोपाल के रवीन्द्र भवन मुक्ताकाश मंच पर 'अंतर्राष्ट्रीय कव्वाली महोत्सव' की शुरुआत हुई। इजराइल से आमंत्रित शाहिद बिन सूर की आवाज से महोत्सव का आगाज़ हुआ। आयोजन भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् का संस्कृति संचालनालय-मध्यप्रदेश एवं मध्यप्रदेश उर्दू अकादमी द्वारा किया गया। प्रमुख सचिव, संस्कृति मनोज श्रीवास्तव और मुख्य कव्वाल शाहिद बिन सूर द्वारा दीप प्रज्जवलित कर समारोह का विधिवत् शुभारम्भ किया गया। सूर ने अपने पाँच सहयोगियों के साथ प्रस्तुति की शुरुआत 'जुलूस नगमा' से की। इसके बाद 'चाला माही देश', 'छाप तिलक सब छीनी' जैसी अनेक सुप्रसिद्ध रचनाओं को गाया। इनके साथ जकी निजामी, जाकिर अली ने भी सुर में सुर मिलाए। संगतकार के रूप में त्रिम्पेट पर अमीर हमामी, नगाड़ा पर नरसीलाल सोलंकी और ढोलक पर अजमेरी खान ने शिरकत की। दूसरे दिवस यू.एस.ए. के जाने-माने कव्वाल ताहिर हुसैन फरीदी और उनके समूह ने माहौल को सुर-ताल की रंगत प्रदान की। इनका ग्रुप विश्व ख्याति का है तथा अनेक देशों की यात्राएँ कर चुका है।

प्रमिला को 'छायारत्न'

''हमारे लिये कोई क्षेत्र या समय आवश्यक नहीं होता था, फोटोग्राफी का इतना शौक था कि कैमरा लेकर निकल जाते थे और जहां अच्छा लगता फोटोग्राफी करते थे।' यह कहना था मध्यप्रदेश की पहली महिला छायाकार प्रमिला नवल का, जिन पर केंद्रित स्मारिका 'छायारत्न प्रमिला नवल' का विमोचन दुष्यंत संग्रहालय में किया गया। 'बिम्ब' संस्था द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम की अध्यक्षता म.प्र. संस्कृति विाग के प्रमुख सचिव मनोज

भोपाल के समीप भोजपुर मंदिर में शिवरात्रि के अवसर पर संस्कृति विभाग द्वारा आयोजित
दो दिवसीय सांस्कृतिक समागम की एक शाम नृत्य की भावपूर्ण प्रस्तुति।

नृत्यांजली

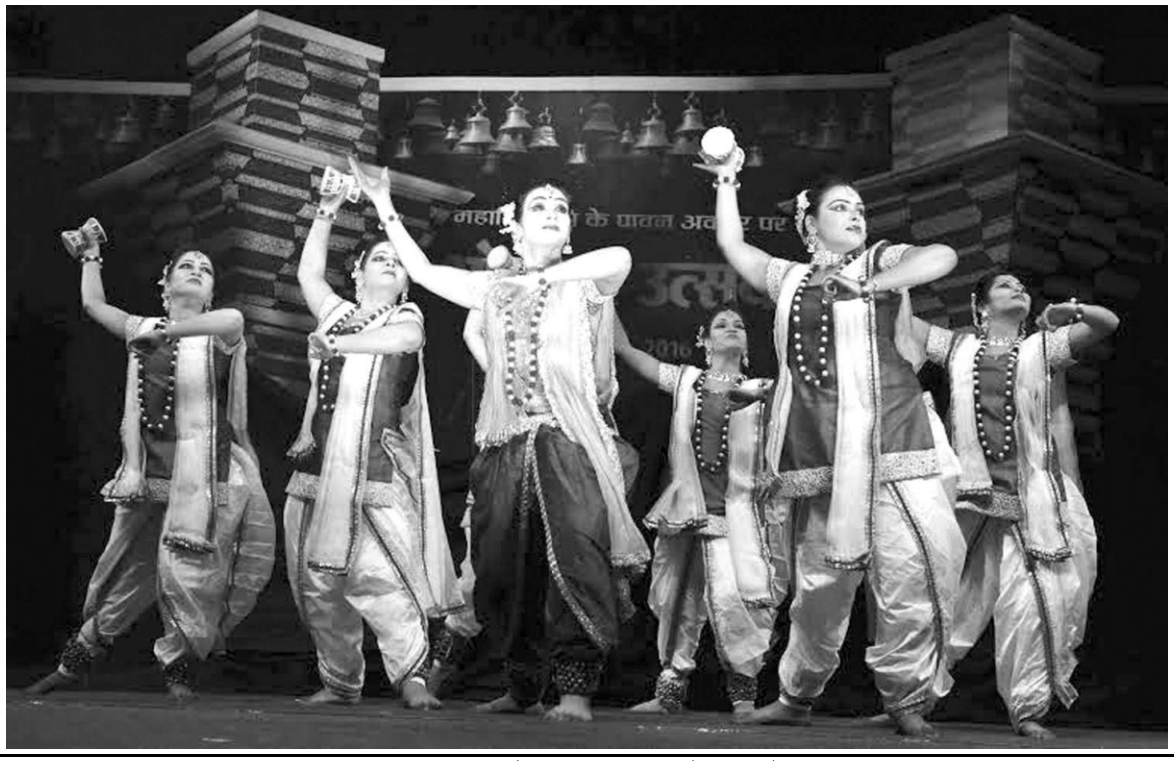

श्रीवास्तव ने की। मुख्य अतिथि के रूप में साहित्यकार संतोष चौबे उपस्तित रहे। गौरतलब है कि 'बिम्ब' संस्था ने अपने सर्वोच्च सम्मान 'छायारत्न' से प्रमिला नवल को सम्मानित किया था। सितार वादक स्मिता नागदेव ने भी विचार व्यक्त किये। उन्होंने कहा कि प्रमिला नवल और नवल जायसवाल दोनों ही बहुत समय से फोटोग्राफी कर रहे हैं और इनके सहयोग से हमें विश्व प्रसिद्ध फोटोग्राफर्स के फोटोग्राफ्स देखने को मिले हैं। इस अवसर पर प्रमिला नवल ने कहा कि उन्हें फोटोग्राफी का शौक अपने पति नवल जायसवाल से मिला। पति फोटोग्राफी करते थे और मैं उनके साथ जाती थी, ऐसा करते-करते मुझे भी फोटोग्राफी में दिलचस्पी होने लगी।

नवगीत एवं नाट्य लेखन कार्यशाला

नये गीत एवं नाटक लेखन के लिए राज्य संसाधन केन्द्र (एस.आर.सी. भोपाल) द्वारा आयोजित तीन दिवसीय राज्य स्तरीय कार्यशाला के अवसर पर केन्द्र के अध्यक्ष एवं विज्ञान लेखक आई.टी. विशेषज्ञ डॉ. अनुराग सीठा ने रचनाकारों को संबोधित करते हुए कहा कि बदलते समय, परिवेश एवं सूचना तकनीकी के इस युग में साक्षरता एवं सामाजिक मुद्दों पर नये गीत एवं नाटकों की रचना करना समाज हित में एक अनुकरणीय पहल है। साक्षरता जनभागीदारी का मुद्दा है और हमें इस कार्य में ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचने के लिये उपकरण एवं तरीके बदलने होंगे। संदेश चुटीले, संक्षिप्त एवं प्रभावी होने पर आपने जोर दिया। कार्यशाला के एक विशेष सत्र में एसआरसी के पूर्व अध्यक्ष संतोष चौबे ने अपने व्याख्यान में वेबुनियादी बातें साझा कीं जो साक्षरता के आन्दोलन का मानक रही हैं।

इसी कार्यशाला के दौरान वरिष्ठ कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने कहा कि हमें समाज के अंतिम वर्ग तक साक्षरता की पहुंच बनाने के लिये अमूर्त का मोह छोड़ते हुए लोक परंपराओं का समावेश करते हुए गीतों एवं नाटकों की रचना करना होगी। भारत के विभिन्न प्रदेशों में किये जाने वाले लोक नाट्य विधाओं से भी सभी को उपाध्याय ने परिचित कराया। राज्य संसाधन केन्द्र, भोपाल के निदेशक संजय सिंह राठौर ने कार्यशाला के समापन अवसर पर ''साक्षरता से जुड़ी रचनाएं सहज-सरल, प्रभावी से ओतप्रोत होने की अपेक्षा की। और इस कार्यशाला में तैयार समस्त नाटकों एवं गीतों का उपयोग शहरी एवं ग्रामीण अंचल में रहने वाले असाक्षरों एवं साक्षरों दोनों ही वर्ग को प्रेरित करने के लिए किया जायेगा। कार्यशाला के समापन अवसर पर महिला सशक्तिकरण, बालिका शिक्षा, शिक्षा का अधिकार, कानूनी साक्षरता, वित्तीय साक्षरता, चुनावी साक्षरता, स्वास्थ्य, स्वच्छता, ट्रेफिक, ध्वनि प्रदूषण, पर्यावरण, मीडिया एवं समाज, जैविक खेती, प्लास्टिक के दुरुपयोग, कुपोषण जैसे कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक विषयों पर रचनाकारों द्वारा विषय चयन किया गया एवं आगामी दिनों में अपनी रचना प्रस्तुत करने की बात कही।

कार्यशाला में बतौर रचनाकार शिव कुमार अर्चन, बद्र वास्ती, युवा रंगकर्मी सुदीप सोहनी, सौरभ अनंत, श्री हेमंत देवलेकर, सुश्री श्वेता केतकर, वरिष्ठ पत्रकार सुश्री शिफाली, वरिष्ठ नाट्यकार रफी शब्बीर, वरिष्ठ संगीतकार संतोष कौशिक, सूर्यप्रकाश अष्ठाना, विक्रांत भट्ट, सोनाली पारे एवं राजू वानखेड़े द्वारा गीत, गजल एवं कविताओं की रचनात्मक प्रस्तुति दी गई। राज्य संसाधन केन्द्र की ओर से इस कार्यशाला में सुनील सेन, सुबोध मण्डलोई ने भागीदारी की। आभार केन्द्र के कार्यक्रम समन्वयक इम्तेयाज खान द्वारा व्यक्त किया गया।

'दिन ज्यों पहाड़ के' पुरस्कृत

काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय वाराणसी और डॉ. शम्भुनाथ सिंह शोध संस्थान न्यास के संयुक्त आयोजन में दो दिवसीय डॉ. शम्भुनथ सिंह जन्मशती समारोह आयोजित किया गया। इस समारोह में डॉ. सिंह केन्द्रित व्याख्यान, नवगीत कृति पुरस्कार, गीत नृत्य्-नाटिकाएँ, नाटक तथा कवि-गोष्ठी के कार्यक्रम काशी विद्यापीठ सभागार तथा अस्सी घाट पर आयोजित किए गए। हिन्दी के प्रख्यात कवि डॉ. केदारनाथ सिंह (दिल्ली) के मुख्य आतिथ्य तथा प्रसिद्ध लेखक, उपन्यासकार डॉ. गंगाप्रसाद विमल (दिल्ली) की अध्यक्षता में हिन्दी और बघेली के प्रतिष्ठित वरिष्ठ नवगीत-कवि अनूप अशेष को उनकी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित नवगीत संग्रह 'दिन ज्यों पहाड़ के' के लिए डॉ. शम्भुनाथ सिंह नवगीत पुरस्कार डॉ. केदारनाथ सिंह द्वारा प्रदान किया गया। कार्यक्रम का संचालन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के डीन डॉ. श्रद्धानंद ने किया।

कौतुक को कमलेश्वर सम्मान

साहित्य संगम इंदौर के अध्यक्ष रचनाकार सदाशिव कौतुक को दुष्यंत कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय, भोपाल द्वारा स्थापना पर्व पर डॉ. कमलेश्वर सम्मान से सम्मानित किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता सच्चिदानंद जोशी ने की। मुख्य अतिथि राजस्व आयुक्त म.प्र. हीरालाल त्रिवेदी, विशेष अतिथि साहित्यकार मधुकर द्विवेदी ने कहानी लेखन हेतु कौतुक को कमलेश्वर सम्मान प्रदान किया। कार्यक्रम का संचालन संग्रहालय के निदेशक राजूरकर राज ने किया एवं अशोक निर्मल ने आभार व्यक्त किया।

'थिएट्रिक्स' में लेखन

विहान ड्रामा वर्क्स की रंगमंच और दीगर कलाओं में अनुशासन तथा प्रशिक्षण की कार्यशाला 'थिएट्रिक्स' के तहत दस दिवसीय लेखन कार्यशाला भोपाल स्थित ऑरोबिंदो स्कूल में हुई। युवा प्रतिभागियों ने तीन अलग-अलग समूहों में लिखी शॉर्ट फिल्मों की स्क्रिप्ट की पिचिंग और रीडिंग के अतिरिक्त अपने लिखे आइडियाज, कहानी और कार्यशाला के दौरान पढ़ी हुई एक किताब का प्रेसेंटेशन किया। सुदीप सोहनी ने कार्यशाला का संचालन किया युवा लेखक और कार्यक्रम के मार्गदर्शक कार्यशाला 'आइडिया से स्टोरी' विषय पर आधारित थी। युवाओं को मार्गदर्शन देते हुए कार्यशाला में लगभग तीस प्रतिभागियों ने आइडिया, स्टोरी, प्लॉट, कथानक आदि बुनियादी बातों की जानकारी लेते हुए रेडियो, विज्ञापन, नाटक, सिनेमा माध्यमों में आइडियाज की अहमियत और कहानियों के लेखन का अभ्यास किया। प्रतिभागियों ने फ्री राइटिंग, फ्लो चार्ट राइटिंग, स्टोरी टेलिंग, पिचिंग, ग्रुप राइटिंग, सिचुएशनल राइटिंग, स्क्रिप्ट वॉक आदि के जरिये लेखन का गहन अभ्यास किया। सुदीप ने बताया कि 'जैसा कि पहले दिन से ही हमारा लक्ष्य केवल और केवल लेखन पर ही था। और हमने तीन घंटे के सत्रों में हर दिन लिखने का लगातार अभ्यास किया। सभी प्रतिभागियों को हमने लेखन से जुड़ी अलग-अलग और पेशेवर विधाओं रेडियो, विज्ञापन, सोशल मीडिया, नाटक, सिनेमा में लेखन की अहमियत पर बात करते हुए कई-कई ड्राफ्ट्स लिखने, आइडियाज बनाने, और स्क्रीनप्ले लिखने की तकनीक साझा की। विहान के संस्थापक सौरभ अनंत ने बताया कि 'ये हमारी लेखन कार्यशाला की तीसरी कड़ी थी। खुशी है कि प्रतिभागियों ने पूरे मन और जो से इस कार्यशाला की अहमियत को समझा है।

'सुनता है गुरु ज्ञानी'

चंदेरी में आयोजित बैजू बावरा ध्रुपद संगीत समारोह के अवसर पर संस्कृति कर्मी और कवि अशोक वाजपेयी ने ध्रुपद गायक गुंदेचा बंधुओं की संगीतकारों के संवाद पर केंद्रित पुस्तक 'सुनता है गुरु ज्ञानी' का लोकार्पण किया।

मालिनी अवस्थी

धरती के छंद गाती आवाज़

शेष विशेष

विनय उपाध्याय

परंपरा कहती है कि लोक गीत हृदय से फूटा, कंठ से निकला और अधरों से छलकता आदिम राग है जिसमें जीवन की हर धड़कन को सुना जा सकता है। लेकिन मनोरंजन के मायावी बाज़ार में जब मिलावटी संगीत बिकाऊ माल बनता जा रहा हो, तब आत्मा की गहराइयों में आनंद की हिलोर जगाने वाले परंपरा के देसी-संगीत की मटियारी महक को महफूज़ रखना किसी चुनौती से कम नहीं। कुछ आवाज़ें इसी नाउम्मीदी के बीच अपनी कोशिशों का हाथ थामें अवाम के बीच जाती हैं और उम्मीद का अमृत छलका देती हैं।

अवध की मिट्टी-पानी और हवाओं की कोख से निकलकर जीवन के आँसुओं और मुस्कानों को जुबान देने वाले सैकड़ों गीत जब एक स्त्री के कंठ का गहना बन जाते हैं तो आशंकाओं का अंधेरा काफूर हो जाता है। विरासत अपने भविष्य पर मुस्कुरा उठती है कि उसने अपना सच्चा उत्तराधिकारी हासिल कर लिया है। मालिनी अवस्थी एक ऐसी ही सुरीली आश्वस्ति के साथ अपनी धरती के छन्द गुनगुना रही हैं। कभी किसी सभागार की चार-दीवारी में, कभी आसमान तले भीड़ भरे जलसे के मंच पर, कभी दूरदर्शन के किसी चैनल पर, तो कभी अपनों के बीच किसी छोटी महफिल में। आवाज़ और अंदाज़ के निरालेपन के बीच मालिनी की पेशकश यकीनन सुनने वालों पर कश्मिाई असर करती है। बोली की मिठास, मन के अहसास, धुनों का सरल-तरल मिजाज़ जब लय-ताल के सुन्दर ताने-बाने के बीच मालिनी के अंतरंग में उतरता है तो वह हमारी तहज़ीब की आवाज़ बन जाती है। आवाज़ का यह असर अब सरहदों के फासले पूरता देश-दुनिया में फैल रहा है। शोहरत और ईनाम अब मालिनी की कलाकार शख्सियत के साथ हो लिए हैं। पद्मश्री के ऐलान ने हाल ही इस गायिका के हुनर और कोशिशों के साथ अवध के लोक संगीत की थाती का मान बढ़ाया है। लखनऊ में जन्मीं मालिनी का संगीत के प्रति लड़कपन से ही रूझान रहा। इसी आग्रह के चलते उन्होंने भारतखंडे संगीत विश्वविद्यालय (लखनऊ) से हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में स्नातकोत्तर की उपाधि हासिल की। गायिकी में निखार और व्यवहारिक पहलुओं के मार्गदर्शन के लिए मूर्धन्य गायिका गिरिजादेवी की शागिर्द बनीं। तालीम और अभ्यास की पूंजी लेकर मालिनी ने जब सार्वजनिक सभाओं में दस्तक दी तो उनकी मीठी-मदिर और ठेठ मिट्टी की

सौंधी गंध से महकती गायिकी ने हज़ारों श्रोताओं को उनका मुरीद बना लिया। भारत के अनेक लोक उत्सवों और कुंभ-मेलों के आमंत्रण मिले। एन.डी.टी.सी इमेजिन रियलिटी शो 'जूनून' के जरिए मालिनी जी की गायिकी का ठेठ पारंपरिक अंदाज सरहद पार के मुल्कों को भी रास आया।

मालिनी का मानना है कि हमें पुरखों से मिली इस अमृत धारा को प्रदूषित होने से बचाना है। लोक गीतों का दरिया बहता रहे, इसकी हिफाज़त के फर्ज.को अदा करने का काम हम कलाकारों का है। हमें इस अनमोल सौगात पर गर्व करना चाहिए। कहती हैं कि श्रुति और स्मृति की परंपरा के साथ ये गीत सदियों का रास्ता पार करते पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम तक पहुँचे हैं। ये गीत हमारी संस्कृति के जागरूक पहरेदार हैं। ज़िंदगी की भूली-बिसरी तस्वीरों, यादों-बातों, किस्सों-कहानियों और संस्कारों की रौशनी में जगमगाते हमारे सच्चे और खरे अनुभवों का दस्तावेज़ हैं। शायद ही कोई बिरादरी हो, जहाँ लोक गीतों का चलन न हो क्योंकि इनके बिना मन का आँगन सूना है।

मालिनी के लिए यह सब कोरा ज्ञान नहीं है। वे श्रोताओं के बीच अपनी प्रस्तुति के दौरान इन सब पहलुओं का खुलासा करती चलती हैं। सोहर हो, गारी हो, चैती-दादरा, ब्याह के गीत हों या भक्ति संगीत, वे हर प्रस्तुति के पहले गीत की विषय-वस्तु और उसके कला पक्ष के संदर्भ बताती हैं। इस तरह मंच और सुनने वालों के बीच एक अनुरागी रिश्ता तैयार होता है। यानी मालिनी की पेशकश का अपना अनूठा मुहावरा है।

अभी हाल ही उज्जैन के क्षिप्रा घाट पर म.प्र. संस्कृति विभाग की सिंहस्थ 'अनुगूँज' श्रृंखला के तहत मालिनी आमंत्रित थीं। शिव भूमि पर गाना उनके लिए सौभाग्य ही था। एक लोक गायिका के रूप में अपनी पहचान और प्रसिद्धि पर स्वाभाविक ही वे खुश हैं, लेकिन अपने शुरूआती दौर को शिद्दत से याद करती हैं जब करीब बारह बरस पहले मध्यप्रदेश के संस्कृति महकमे की आदिवासी लोक कला परिषद ने खंडवा में आयोजित 'श्रुति' समारोह में गाने का अवसर दिया। भारत की लोक गायिकी पर एकाग्र इस समारोह में मशहूर पंडवानी गायिका तीनबाई, पंजाबी गायिका गुरमीत बावा भी आमंत्रित थीं। इस मंच को साझा करना मालिनी के लिए उन दिनों बेहद फ़क्र की बात थी।

अब जब भारत के प्रथम नागरिक महामहिम राष्ट्रपति से सम्मानित होने का यश उनके हिस्से आया है तो मालिनी सहज रोमांचित हैं। उन्हें इस बात की प्रसन्नता है कि तमाम विधाओं के बीच लोक संगीत की अनदेखी नहीं हुई। यह भारत की श्रुति परंपरा का सम्मान है। मैं तो बस, उसकी नुमाइंदगी कर रही हूँ।

भारत की लोक गायन परंपरा के क्षेत्र में विशिष्ट उपलब्धियों के लिये मालिनी अवस्थी को पद्मश्री अलंकरण भेंट करते हुए राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी